श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला का ४८वां पुष्प

पुस्तक · चौबीस तीर्थंकर . एक पर्यवेक्षण

लेखक : राजेन्द्रमुनि शास्त्री

सम्पादक : प्रो० श्री लक्ष्मण भटनागर, श्रमजीवी कालेज, अजमेर

प्रेरिका : मातेश्वरी महासती श्री प्रकाशवती जी

प्रकाशन वर्ष मई १९७६, वीर निर्वाण स० २५०२

प्रकाशक श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर [राज०]

शाखा कार्यालय
खूबीलाल जी मागीलाल जी सोलकी
१५५/२ गणेश पेठ, साधना सदन, पूना-२

मुद्रक श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

प्रकाशकीय

अपने चिन्तनशील प्रबुद्ध पाठको के कर-कमलो मे 'चौबीस तीर्थंकर एक र्यवेक्षण' ग्रन्थ-रत्न समर्पित करते हुए अत्यन्त आह्लाद है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे चौबीस ीर्थंकरो की जीवनगाथा के साथ तत्कालीन परिस्थिति व प्रभाव आदि का भी सुन्दर वत्रण हुआ है। चौबीस तीर्थंकरो के जीवनवृत्त आदि को जानने के लिए यह ग्रन्थ र्चलाईट की तरह उपयोगी है। लेखक ने 'सागर को गागर मे' भरने का प्रयास किया है, जो स्तुत्य है।

हमारी चिरकाल से इच्छा थी कि चौबीस तीर्थंकरो पर ऐसा कोई ग्रन्थ हो जससे पाठको को पूरी जानकारी हो सके। हमने अपनी जिज्ञासा उदीयमान साहित्य-ार श्री राजेन्द्र मुनिजी के समक्ष प्रस्तुत की और उन्होने स्वल्प समय मे ही हमारी ावना के अनुरूप ग्रन्थ को तय्यार कर दिया। राजेन्द्र मुनिजी, श्रद्धेय राजस्थान सरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्ध जैन साहित्य-ार शास्त्री श्री देवेन्द्र मुनिजी के शिष्य हैं। आपने इसके पूर्व, राजस्थान केसरी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जीवन और विचार', 'भगवान महावीर की सूक्तियाँ', भगवान महावीर जीवन और दर्शन', 'लार्ड महावीर', 'मेघकुमार एक परिचय' ादि अनेक पुस्तके लिखी हैं और 'सोलह सती', 'जम्बू स्वामी एक परिचय', जैनधर्म', 'अहिंसा एक अनुशीलन' आदि ग्रन्थो का प्रणयन किया है। वे यथा-ीघ्र प्रकाशित होगे। मुनि जी स्वभाव से मधुर, मिलनसार व कार्य करने मे कुशल है। आप श्री ने, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, शास्त्री आदि अनेक परीक्षाएँ भी समुत्तीर्ण ी है। आप श्री से भविष्य मे समाज को अनेक आशाएँ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे जिन उदार दानी महानुभावो ने उदारता के ाथ सहयोग प्रदान किया, उनका हम हृदय से आभार मानते है। साथ ही ग्रन्थ को ुद्रणकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने वाले स्नेह-मूर्ति श्रीचन्द जी सुराना ा भी हम हार्दिक आभार मानते है।

मन्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर

'रुणवाल परिवार : एक परिचय'

राजस्थान के गौरवपूर्ण इतिहास मे खूडी गाँव के रुणवाल परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह परिवार अतीतकाल से ही धार्मिक, सास्कृतिक व सामाजिक क्षेत्र मे अग्रगण्य रहा है, इसका इतिहास अत्युज्ज्वल है। खूडी गाँव से प्रस्तुत परिवार व्यापारार्थ बीजापुर (कर्णाटक) मे आया।

सक्षिप्त मे इस परिवार का परिचय इस प्रकार है।

श्रीमान् सेठ किस्नलाल जी के ४ पुत्र हुए—श्री चतुरभुज जी, श्री ऋद्धकरण जी, श्री इन्द्रमल जी, श्री पन्नालाल जी। वर्तमान मे जो रुणवाल परिवार है, वह चतुरभुज जी, ऋद्धकरण जी तथा पन्नालाल जी का है। श्री चतुरभुज जी के एक पुत्र है—श्री पुसालाल जी। माननीय पुसालाल जी के ६ पुत्र हैं—श्री आईदान जी, श्री छोटमल जी, श्री तेजमल जी, श्री विरदीचन्द जी, श्री गुलावचन्द जी, श्री फूलचन्द जी। माननीय आईदान जी के ३ सुपुत्र हैं—श्री हेमराज जी, श्री गणेशमल जी तथा श्री पुनमचन्द जी। माननीय छोटमल जी के दो पुत्र हैं—श्री भीखमचन्द जी तथा रामचन्द जी। माननीय श्री तेजमल जी के ५ पुत्र है—श्री खेमचन्द जी, श्री उदयराज जी, श्री अमृतलाल जी, श्री गणपतलाल जी तथा श्री जवाहरलाल जी।

माननीय विरदीचन्द जी के ३ पुत्र है—श्री लक्ष्मीचन्द जी, श्री नेमीचन्द जी, श्री सुभाषचन्द जी। माननीय श्री गुलावचन्द जी के ४ पुत्र हैं—श्री नथमल जी, श्री वीरेन्द्र कुमार जी, श्री फतेहचन्द जी, श्री महेन्द्र कुमार जी।

माननीय श्री फूलचन्द जी के ३ पुत्र हैं—श्री दीपचन्द जी, श्री नन्दलाल जी, श्री केवलचन्द जी। माननीय श्री ऋद्धकरण जी के श्री कुन्दनलाल जी पुत्र हुए तथा श्री कुन्दनलाल जी के दो पुत्र है—श्री भेरुलाल जी एव श्री ताराचन्द जी। श्री भेरुलाल जी के दो पुत्र है—श्री चम्पालाल जी और श्री सागरमल जी, श्री ताराचन्द जी के भी दो पुत्र है—श्री टीकमचन्द जी तथा श्री शान्तिलाल जी।

श्रीमान् पन्नालाल जी के ३ पुत्र हैं—श्री शिवराज जी, श्री अभेराज जी तथा श्री चुन्नीलाल जी, माननीय श्री शिवराज जी के ४ पुत्र हैं—श्री प्रेमराज जी, श्री

भागीरथ जी, श्री जीतमल जी श्री मूलचन्द जी। श्रीमान् प्रेमराज जी के ५ पुत्र है श्री भंवरलाल जी, श्री हीरालाल जी, श्री अजयराज जी, श्री पारसमल जी तथा श्री दलीचन्द जी। श्रीमान् भागीरथ जी के एक पुत्र हैं श्री अम्बालाल जी, श्रीमान् जीतमल जी के पुत्र है श्री नन्दलाल जी श्रीमान् मूलचन्द जी के दो पुत्र है श्री घोडीराम जी, श्री बसन्तलाल जी। श्रीमान् अमयराज के एक पुत्र है श्री राजमल जी, श्री राजमल जी के पुत्र है श्री चन्दुलाल जी। इसी प्रकार श्रीमान् चुन्नीलाल जी के ९ पुत्र है। वे क्रमश इसी प्रकार—श्री उत्तमचन्द जी, श्री दुर्गालाल जी, श्री देवीलाल जी, श्री केसरीमल जी, श्री पुखराज जी, श्री माणकचन्द जी, श्री मोतीलाल जी, श्री साकलचन्द जी और श्री चन्दुलाल जी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे रुणवाल परिवार का जो सहयोग मिला है वह इस प्रकार है—

१००१ श्रीमान् जीतमल जी नन्दलाल जी रुणवाल वीजापुर (कर्णाटक)
६२५ श्रीमान् फूलचन्द जी दीपचन्द जी रुणवाल ,,
५०० श्रीमान् अम्बालाल जी भागीरथ जी रुणवाल ,,
५०० श्रीमान् हीरालाल जी प्रेमराज जी रुणवाल ,,
५०० श्रीमान् गुलाबचन्द जी नथमल जी रुणवाल ,,
५०० श्रीमान् तेजमल जी उदयराज जी रुणवाल ,,
२५१ श्रीमान् ताराचन्द जी टीकमचन्द जी रुणवाल ,,
२५१ श्रीमान् भेरुलाल जी चम्पालाल जी रुणवाल ,,
२५१ श्रीमान् राजमल जी हुकमीचन्द जी रुणवाल ,,
१२५ श्रीमान् मूलचन्द जी घोडीराम जी रुणवाल ,,

मै श्री रुणवाल परिवार के इस आर्थिक सहयोग के उपलक्ष मे हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

भवदीय
मन्त्री
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर

ससार सदा एक ही गति और रूप से सचालित नही होता रहता—यह परिवर्तनशील है। 'परिवर्तन' प्रकृति का एक सहज धर्म है। हम अपने अति लघु जीवन-काल मे ही कितने परिवर्तन देख रहे हैं ? यदि आज भी किसी के लिए कुभकरणी नीद सम्भव हो तो जागरण पर वह अपने समीप के जगत को पहचान भी नही पायेगा। जो कल था, वह आज नही है और जो आज है, वह कल नही रहेगा। ऐसी स्थिति मे लाखो-करोडो वर्षों की अवधि मे यदि 'क्या का क्या' हो जाय तो कदाचित् यह आश्चर्य-जनक नही होगा। ये परिवर्तन उत्थान के रूप मे भी व्यक्त होते हैं और पतन के रूप मे भी। ह्रास और विकास दोनो ही स्वय मे परिवर्तन हैं। साथ ही एक और ध्यातव्य तथ्य यह भी है कि परिवर्तन के विषयो के अन्तर्गत मात्र बाह्य पदार्थ या परिस्थितियाँ ही नही आती, अपितु मानसिक जगत भी इसके विराट लीला-स्थल का एक महत्त्वपूर्ण किवा प्रमुख क्षेत्र है। आचार-विचार, आदर्श, नैतिकता, धर्म-भावना, मानवीय दृष्टि-कोण आदि भी कालक्षेप के साथ-साथ परिवर्तन प्राप्त करते रहते है। मानव की शक्ति-सामर्थ्य भी वर्धन-सकोच के विषय बने रहते है। श्रेष्ठ प्रवृत्तियो और मानवोचित सदादर्शो मे कभी सबलता आती है तो वे अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर पुन. अधोमुखी हो जाते हैं और इसके चरम पर पहुँच कर पुन 'प्रत्यागमन' की स्थिति आती है।

लोक कथाओ मे एक प्रसग आता है। किसी श्रेष्ठी पर एक दैत्य प्रसन्न हो गया और उसका दास बन गया। दैत्य मे अद्भुत कार्य-शक्ति थी। उसने अपनी इस क्षमता का श्रेष्ठी के पक्ष मे समर्पण करते हुए कहा कि मुझे काम चाहिए—एक के पश्चात् दूसरा आदेश देते रहिये। जब मुझे देने के लिए आपके पास कोई काम न होगा, तो मै आपका वध करके यहाँ से चला जाऊँगा। प्रथम तो श्रेष्ठी बडा प्रसन्न हुआ। अभिलाषाओ की अपारता से भी वह परिचित था। और जब प्रत्येक अभिलाषा इस प्रकार दैत्य द्वारा पूर्ण हो जाने की समावना रखती है, तो श्रेष्ठी अपने सुख-साम्राज्य की व्यापकता की कल्पना मे ही खो गया। परम प्रमुदित श्रेष्ठी ने एक के पश्चात् दूसरा आदेश देना आरम्भ कर दिया। दैत्य क्षणमात्र मे कार्य सम्पन्न कर लौट आता। ऐसी स्थिति मे श्रेष्ठी को अभिलाषाओ की ससीमता का आभास होने लगा। उसका ऐश्वर्य तो उत्तरोत्तर अभिवर्धित होने लगा, किन्तु समस्या यह थी कि वह दैत्य को

आगामी आदेश क्या दे ? उसकी कल्पना-शक्ति भी चुकने लगी । भय था कि आदेश न दिया गया तो दैत्य मेरी हत्या कर देगा । वह दैत्य द्वारा निर्मित स्वर्ण-प्रासाद मे भी आतंकित था । उसे प्राणो का भय था और इस कारण समस्त सुखराशि उसे नीरस प्रतीत होती थी । जब अपनी सारी कल्पनाएँ साकार हो गयी तो श्रेष्ठी ने दैत्य को एक आदेश दिया कि इस मैदान मे एक बहुत ऊँचा स्तम्भ निर्मित कर दो । देखते ही देखते उसने इस आज्ञा को पूरा कर दिया । अब श्रेष्ठी ने अन्तिम आदेश दिया कि इस स्तम्भ पर चढो और उतरो । तुम्हारा यह कार्य तब तक चलता रहना चाहिये, जब तक मैं तुम्हे अगला आदेश न दूं । श्रेष्ठी तो अपनी स्वाभाविक मृत्यु पा गया, परन्तु वह दैत्य बेचारा अब भी स्तम्भ पर चढने-उतरने के क्रम को सतत रूप से चला रहा है । भला यह काम भी कभी समाप्त हो सकता है ?

कुछ ऐसी ही स्थिति इस जगत मे धर्म-भावना की भी है । वह विकसित होती है और पुन सकुचित हो जाती है तथा पुन विकासोन्मुख हो जाती है । इसका यह अजस्र क्रम भी असमाप्य है । विकास-ह्रास की इस स्थिति को हम सर्प के आकार से भी समझा सकते है । पूंछ से फन तक का भाग निरन्तर स्थूल से स्थूलतर होता चलता है और फन से पूँछ की ओर निरन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर । पूंछ से फन की ओर और फन से पुन पूंछ की ओर की यह क्रमिक यात्रा मानवीय गुणो द्वारा असख्य वर्षों से होती चली आ रही है । पूंछ से फन की ओर वाली यात्रा 'उत्सर्पिणी काल' है जिसमे शारीरिक शक्ति और सद्मनोवृत्तियो, धर्मभावनाओ आदि मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता चलता है । और फन पर पहुँचकर पुन· पूंछ की ओर वाली यात्रा 'अवसर्पिणी काल' है जिसमे इन गुणो मे अपकर्ष होता चलता है । ये ही अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल—दोनो मिलकर कालचक्र को रूपायित करते हैं । यह कालचक्र अबाध गति के साथ अनादि से ही सचालित है और इसका सचालन अनन्त काल तक होता भी रहेगा ।

यह काल-चक्र घडी के अक-पट की भांति है, जिस पर सुइयां ६ से १२ तक उन्नत होती चली जाती है और १२ से ६ तक की यात्रा मे वे पुन अवनत होती रहती है । ६ से १२ की यात्रा को उत्सर्पिणीकाल समझा जा सकता है और १२ से ६ की यात्रा को अवसर्पिणीकाल । सुइयो की यात्रा के इन दोनो भागो मे जैसे ६-६ अक होते है—वैसे ही इन दोनो कालो के भी ६-६ भाग है जो 'आरा' कहलाते है । उल्लेखनीय एक अन्तर दोनो मे अवश्य है कि घडी के ये सभी १२ विभाग सर्वथा समान है, किन्तु आरा-अवधियां अपने परिमाण मे समान नही होती । किसी का काल कम है, तो किसी का अधिक ।

कालचक्र के इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनो कालो मे से प्रत्येक के तीसरे और चौथे आरा मे २४-२४ तीर्थंकर होते है । धर्मभावना की वर्तमान उत्तरोत्तर क्षीणता इसकी स्पष्ट प्रमाण है कि इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है । इस काल का यह पांचवां आरा है । इसके पूर्व के २ आरा अर्थात् तीसरे और चौथे आरा मे २४

तीर्थंकरो की एक परम्परा मिलती है । इस परम्परा के आदि उन्नायक भगवान ऋषभदेव थे और इसी आधार पर उन्हें 'आदिनाथ' भी कहा जाता है । इसी परम्परा के अन्तिम और २४वें तीर्थंकर हुए हैं—भगवान महावीर स्वामी, जिनके सिद्धान्तो के तीव्र प्रकाश मे आज भी भटकी हुई मानवता सन्मार्ग को खोज लेने मे सफल हो रही है । २५,०० वर्ष पूर्व प्रज्वलित वह ज्योति आज भी अपनी प्रखरता मे ज्यो की त्यो है—तनिक भी मन्द नही हो पायी है । वस्तुत भगवान महावीर स्वय ही 'विश्व-ज्योति' है ।

तीर्थंकर-स्वरूप-विवेचना

अब प्रश्न यह है कि तीर्थंकर कौन होते है ? तीर्थंकर का स्वरूप और लक्षण क्या है एव तीर्थंकर की विराट भूमिका किस प्रकार की होती है ? मेरे जैसे साधारण बुद्धि वालो के लिए इसकी समग्र व्याख्या कठिन है । 'गूंगे के गुड' की भाँति ही मैं तीर्थंकरो की महत्ता को हृदयगम तो किसी सीमा तक कर पाता हूँ, किन्तु उसके समग्र विवेचन की क्षमता का दावा मेरे लिए दभ मात्र होगा । तीर्थंकर गौरव अतिविशाल है, उसके नवनवीन परिपार्श्व हैं—आयाम है, उसकी महिमा शब्दातीत है । जैन शास्त्रीय शब्द 'तीर्थंकर' पारिभाषिक है । अभिधार्थ से भिन्न ग्राह्य अर्थ वाले इस शब्द की सरचना 'तीर्थ' और 'कर' इन दो पदो के योग से हुई है । यहाँ 'तीर्थ' शब्द का लोक प्रचलित अर्थ 'पावन-स्थल' नही, अपितु इसका विशिष्ट तकनीकी अर्थ ही ग्राह्य है । वस्तुत 'तीर्थ' का प्रयोजन है—सघ से । इस धर्मसघ मे चार विभाग होते है—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका । ये चार तीर्थ हैं । तीर्थंकर वह है जो इन चार तीर्थों का गठन करे, इनका सचालन करे । इस प्रकार चतुर्विध धर्मसघ का सस्थापक ही तीर्थंकर है ।

वह परमोपकारी, उच्चाशय, पवित्र आत्मा तीर्थंकर है, जो समस्त मनोविकारो से परे हो । अपनी कठोर साधना और घोर तपश्चर्या के बल पर वह केवल-ज्ञान, केवलदर्शन का लाभ प्राप्त करता है और अन्तत कालकर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है । किन्तु मात्र इतना-सा स्पष्टीकरण ही किसी के तीर्थंकरत्व के लिए पर्याप्त नही होता । उक्त कथित क्षमता के धनी तो तीर्थंकर की भाँति सर्वज्ञ और सर्वदर्शी सामान्य केवली भी हो सकते हैं किन्तु उनमे तीर्थंकर के समान पुण्य का चरमोत्कर्ष नही होता । दूसरा ज्ञातव्य तथ्य यह है कि सर्वज्ञता के अधिकारी एक ही अवसर्पिणी काल मे असख्य आत्माएँ हो सकती हैं जबकि तीर्थंकरत्व केवल २४ उच्च आत्माओ को ही प्राप्त होता है और हुआ है । अत तीर्थंकरो के लिए कौन-सी विशिष्टता अतिरिक्त रूप से उपेक्षित होती है—यह विचारणीय प्रश्न है ।

वस्तुत उपर्युक्त अर्जनाएँ, केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर निर्वाण के दुर्लभ पद को सुलभ कर लेने वाले, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त दशा को प्राप्त असख्य जन 'केवली' हैं । वे अपनी धर्म-साधना के आधार पर प्राय स्वात्मा को ही कर्म-बधन से मुक्त करने मे समर्थ हैं । तीर्थंकर इससे भी आगे चरण बढाता है । वह अपनी अर्जनाओ की शक्ति का जगत के कल्याण के लिए प्रयोग करता है, अपने ज्ञान से सभी को लाभान्वित करता है । वह पथभ्रष्ट मानवता को आत्म-कल्याण के सन्मार्ग पर

आरूढ कर उस पर गतिशील रहने के लिए क्षमता प्रदान करता है और असख्यजनो को मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचने की जटिल यात्रा मे अपने सजग नेतृत्व का सहारा देता है, उनका मार्ग-दर्शन करता है। यह सर्वजनहिताय दृष्टिकोण ही केवली को अपनी सकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर तीर्थंकरत्व की व्यापक और अत्युच्च भूमि पर अवस्थित कर देता है।

इस विराट भूमिका का निर्वाह करने वाले इस अवसर्पिणी काल मे केवल २४ महिमा सम्पन्न साधक हुए है और वे ही तीर्थंकरत्व की गरिमा से विभूषित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रथ का प्रतिपाद्य इन्ही २४ तीर्थंकरो का जीवन-चरित रहा है। जैन इतिहास मे यह वर्ष विशेष उल्लेखनीय रहेगा, जब भगवान महावीर स्वामी के २५सौ वे निर्वाण महोत्सव को समग्र राष्ट्र मे उत्साह के साथ मनाया जा रहा है। भगवान के परम पुनीत जीवन का गहन अध्ययन करना, उनके सर्वजनहिताय सिद्धान्तो पर मनन कर उनके प्रति एक परिपक्व समझ विकसित करना, उनको आचरण मे ढालना आदि कुछ ऐसे आयाम है, जिनके माध्यम से निर्वाण महोत्सव को सार्थकता दी जा सकती है। इस भावना के साथ 'भगवान महावीर जीवन और दर्शन' शीर्षक एक ग्रन्थ की रचना का साहस लेखक कर चुका था। तभी उसके मन मे एक अन्य भावना अँगडा-इयाँ लेने लगी कि वस्तुत महावीर भगवान ने जो व्यापक जनकल्याण का अजस्र अभियान चलाया उसके पीछे उनकी समता, शक्ति और सिद्धियाँ तो थी ही, किन्तु उनके सामने एक विराट् अनुकरणीय आदर्श शृ खला भी रही थी। जहाँ स्वय के ही जन्म-जन्मान्तरो के पुण्यकर्मो और श्रेष्ठ सस्कारो की शक्ति उन्हे प्राप्त थी, वहाँ एक सुदीर्घ समुज्ज्वल तीर्थंकर-परम्परा भी उनके सामने रही है। अत समस्त तीर्थंकरो का चरित-चित्रण प्रासगिक ही नही होगा, अपितु वह भगवान महावीर के चरित को हृदय-गम कराने की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण पूरक भी सिद्ध होगा।

कुछ इसी प्रकार की धारणा के साथ २४ तीर्थंकरो के जीवन चरित को विपय मानकर मैं प्रयत्न-रत हुआ, जिसने इस पुस्तक के रूप मे आकार ग्रहण कर लिया है। मैं उनके जीवन की समग्र महिमा को उद्घाटित कर पाया हूँ—यह कथन मेरी दुर्विनीतता का द्योतक होगा। मैं तो केवल सतह तक ही सीमित रहा हूँ। मोतियो की गहराई तक पहुँच पाने का सामर्थ्य मुझमे कहाँ ? मेरे इस प्रयास मे श्रद्धेय गुरुदेव राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी एव प्रसिद्ध जैन साहित्यकार गुरुदेव श्री देवेन्द्र मुनिजी, मेरे ज्येष्ठ सहोदर श्री रमेश मुनिजी शास्त्री, काव्यतीर्थ का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। जिनकी अपार कृपादृष्टि से ही मैं प्रस्तुत ग्रन्थ लिख सका हूँ। इस ग्रन्थ मे जो कुछ भी अच्छाई है वह सभी पूज्य गुरुदेवश्री की अपार कृपा का ही फल है। साथ ही प्रोफेसर श्री लक्ष्मण भटनागर जी को भी स्मरण किये विना नही रह सकता। जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक मे आवश्यक सशोधन व सम्पादन किया। श्रीयुत स्नेहमूर्ति सुराना जी ने ग्रन्थ के पुन अवलोकन, सशोधन एव मुद्रण-कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाया है।

—राजेन्द्र मुनि

प्रस्तावना

भगवान महावीर की पूर्वकालीन जैन परम्परा

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन मनुष्य जीवन के दो अभिन्न अग है। जब मानव, चिन्तन के सागर मे गहराई से डुबकी लगाता है तब दर्शन का जन्म होता है, जब वह उस चिन्तन का जीवन मे प्रयोग करता है तब धर्म की अवतारणा होती है। मानव-मन की उलझन को सुलझाने के लिए ही धर्म और दर्शन अनिवार्य साधन हैं। धर्म और दर्शन दोनो परस्पर सापेक्ष हैं, एक-दूसरे के पूरक है।

महान् दार्शनिक सुकरात के समक्ष किसी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि शाति कहाँ है और क्या है ?

दार्शनिक ने समाधान करते हुए कहा, "मेरे लिए शाति मेरा धर्म और दर्शन है। वह वाहर नही अपितु मेरे अन्दर है।"

सुकरात की दृष्टि से धर्म और दर्शन परस्पर भिन्न नही अपितु अभिन्न तत्त्व हैं। उसके वाद यूनानी व यूरोपीय दार्शनिको मे धर्म और दर्शन को लेकर मतभेद उपस्थित हुआ। सुकरात ने जो दर्शन और धर्म का निरूपण किया वह जैनधर्म से वहुत कुछ सगत प्रतीत होता है। जैनधर्म मे आचार के पाच भेद माने गये है।[1] उसमे ज्ञानाचार भी एक है। ज्ञान और आचार परस्पर सापेक्ष हैं। इस दृष्टि से विचार दर्शन और आचार धर्म है।

पाश्चात्य चिन्तको ने धर्म के लिए 'रिलीजन' और दर्शन के लिए 'फिलॉसफी' शब्द का प्रयोग किया है। किंतु धर्म और दर्शन शब्द मे जो गम्भीरता और व्यापकता है वह रिलीजन और फिलॉसफी शब्द से व्यक्त नही हो सकती। भारतीय विचारको ने धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् स्वीकार नही किया है। जो धर्म है वही दर्शन भी है। दर्शन तर्क पर आधारित है, धर्म श्रद्धा पर, वे एक-दूसरे के वाधक नही अपितु साधक हैं। वेदान्त मे जो पूर्वमीमासा है वह धर्म है और उत्तरमीमासा है वह दर्शन है। योग आचार है, तो साख्य विचार है। बौद्ध परम्परा मे हीनयान दर्शन है तो महायान धर्म है। जैनधर्म मे मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं—एक अहिंसा, दूसरा अनेकात। अहिंसा धर्म है और अनेकात दर्शन है। इस प्रकार दर्शन धर्म है और धर्म दर्शन है। विचार मे आचार और आचार मे विचार यही भारतीय चिन्तन की विशेषता है।

---

१ स्थानाङ्ग ५, उद्दे २, सूत्र ४३२

ग्रीस और यूरोप मे धर्म और दर्शन दोनो साथ-साथ नही अपितु एक दूसरे के विरोध मे भी खडे हैं, जिसके फलस्वरूप जीवन मे जो आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए वह नही हो पाती।

पाश्चात्य विचारको ने धर्म मे बुद्धि, भावना और क्रिया—ये तीन तत्त्व माने हैं। बुद्धि से तात्पर्य है ज्ञान, भावना का अर्थ है श्रद्धा, और क्रिया का अर्थ है आचार। जैन दृष्टि से भी सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो धर्म हैं।

'हेगेल' और 'मैक्समूलर' ने धर्म की जो परिभाषा की है उसमे ज्ञानात्मक पहलू पर ही बल दिया है और दो अशो की उपेक्षा की है। काण्ट ने धर्म की जो परिभाषा की, उसमे ज्ञानात्मक के साथ क्रियात्मक पहलू पर भी लक्ष्य दिया, पर भावनात्मक पहलू की उसने भी उपेक्षा कर दी। किंतु मार्टिन्यू ने धर्म की जो परिभाषा प्रस्तुत की, उसमे विश्वास, विचार और आचार इन तीनो का मधुर समन्वय है। दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनो को उसने अपनी परिभाषा मे समेट लिया है।

धर्म और दर्शन का क्षेत्र

पाश्चात्य विचारको की दृष्टि से धर्म और दर्शन का विषय सम्पूर्ण विश्व है। दर्शन मानव की अनुभूतियो की तर्कपुरस्सर व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तो की अन्वेषणा करता है। धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यो के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का विवेचन करने का प्रयास करता है। धर्म और दर्शन मे दूसरी समता यह है कि दोनो मानवीय ज्ञान की योग्यता मे, यथार्थता मे, चरम तत्त्व मे विश्वास करते है। दर्शन मे मेधा की प्रधानता है तो धर्म मे श्रद्धा की। दर्शन बौद्धिक आभास है, धर्म आध्यात्मिक विकास है। दर्शन सिद्धान्त को प्रधानता देता है तो धर्म व्यवहार को।

आज के युग मे यह प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म और दर्शन का जन्म कब हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे सक्षेप मे इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वर्तमान इतिहास की दृष्टि से इसकी आदि का पता लगाना कठिन है। इसके लिए हमे प्रागैतिहासिक काल मे जाना होगा, जिस पर हम अगले पृष्ठो पर चिन्तन करेंगे। किन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि दर्शन के अभाव मे धर्म अपूर्ण है और धर्म के अभाव मे दर्शन भी अपूर्ण है। मानव-जीवन को सुन्दर, सरस व मधुर बनाने के लिए दोनो ही तत्त्वो की जीवन मे अत्यन्त आवश्यकता है।

आधुनिक मनीषा को एक और प्रश्न भी झकझोर रहा है कि धर्म और विज्ञान मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यहाँ विस्तार से विवेचन करने का प्रसग नही है। सक्षेप मे इतना ही बताना आवश्यक है कि धर्म का सबध आन्तरिक जीवन से अधिक है और विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् (प्रकृति) से है। धर्म का प्रधान उद्देश्य मुक्ति की साधना है और विज्ञान का प्रधान उद्देश्य है प्रकृति का अनुसधान। विज्ञान मे सत्य

की तो प्रधानता है, पर शिव और सुन्दरता का उसमे अभाव है जबकि धर्म मे 'सत्य' 'शिव' और 'सुन्दरम्' तीनो ही अनुवर्तित हैं।

जैनधर्म

जैनधर्म विश्व का एक महान् धर्म भी है, दर्शन भी है। आज तक प्रचलित और प्रतिपादित सभी धर्म तथा दर्शनो मे यह अद्भुत, अनन्य एव जीवनव्यापी है। विश्व का कोई भी धर्म और दर्शन इसकी प्रतिस्पर्धा नही कर सकता। इसमे ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह आज भी विश्व के विचारको के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यहाँ पर स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि प्रस्तुत विचारणा के पीछे विशुद्ध सत्य-तथ्य की अन्वेषणा ही प्रमुख है, न कि किसी भी धर्म के प्रति उपेक्षा, आक्षेप और ईर्ष्या की भावना।

सहज ही प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म और दर्शन यदि इतना महान् व श्रेष्ठ है तो उसका अनुसरण करने वालो की सख्या इतनी अल्प क्यो है ? उत्तर मे निवेदन है कि मानव सदा से सुविधावादी रहा है, वह सरल मार्ग को पसद करता है, कठिन मार्ग को नही। आज भौतिकवादी मनोवृत्ति के युग मे यह प्रवृत्ति द्रौपदी के चीर की तरह बढती ही जा रही है। मानव अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए वह अहर्निश प्रयत्न कर रहा है तथा उसमे अपने जीवन की सार्थकता अनुभव कर रहा है, जबकि जैनधर्म भौतिकता पर नही, आध्यात्मिकता पर बल देता है। वह स्वार्थ को नही, परमार्थ को अपनाने का सकेत करता है, वह प्रवृत्ति की नही, निवृत्ति की प्रेरणा देता है, वह भोग नही, त्याग को बढावा देता है, वासना को नही, उपासना को अपनाने का सकेत करता है, जिसके फलस्वरूप ही जैनधर्म के अनुयायियो की सख्या अल्प व अल्पतर होती जा रही है पर, यह असमर्थता, अयोग्यता व दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मानव का है न कि जैनधर्म और दर्शन का है। अनुयायियो की अधिकता और न्यूनता के आधार से किसी भी धर्म को श्रेष्ठ और कनिष्ठ मानना विचारशीलता नही है। जैनधर्म की उपयोगिता और महानता जितनी अतीत काल मे थी, उससे भी अधिक आधुनिक युग मे है। आज विश्व के भाग्यविधाता चिन्तित हैं। भौतिक सुख-सुविधाओ की असीम उपलब्धि पर भी जीवन मे आनन्द की अनुभूति नही हो रही है। वे अनुभव करने लगे हैं कि बिना आध्यात्मिकता के भौतिक उन्नति जीवन के लिए वरदान नही, अपितु अभिशाप है।

जैनधर्म : एक स्वतंत्र व प्राचीन धर्म

यह साधिकार कहा जा सकता है कि जैनधर्म विश्व का सबसे प्राचीन धर्म है। यह न वैदिक धर्म की शाखा है, न बौद्धधर्म की। किन्तु यह सर्वतत्र स्वतत्र धर्म है, दर्शन है। यह सत्य है कि 'जैनधर्म' इस शब्द का प्रयोग वेदो मे, त्रिपिटको मे और आगमो मे देखने को नही मिलता जिसके कारण तथा साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण

कितने ही इतिहासकारो ने जैनधर्म को अर्वाचीन मानने की भयकर भूल की है। हमे उनके ऐतिहासिक ज्ञान पर तरस आती है।

'वैदिक सस्कृति का विकास' पुस्तक मे श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—"जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक सस्कृति की ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हे वैदिक नही मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलत इन शाखाओ के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनो और बौद्धो की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, ससार का बधन और मोक्ष या मुक्ति, अन्ततोगत्वा वैदिक ही है।"[२]

शास्त्री महोदय ने जिन अन्तिम कल्पनाओ–कर्म-विपाक, ससार का बधन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वास्तव मे वे मूलत अवैदिक हैं।

वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नही है। और इनको विना माने कर्मविपाक और बधन की कल्पना का मूल्य ही क्या है? ए० ए० मैकडोनेल का मन्तव्य है—"पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदो मे कोई सकेत नही मिलता है किन्तु एक ब्राह्मण मे यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् सस्कारादि नही करते वह मृत्यु के बाद पुन जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं।[३]

वैदिकसस्कृति के मूल तत्त्व हैं–'यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था।' इन तीनो का विरोध श्रमणसस्कृति की जैन और बौद्ध दोनो धाराओ ने किया है। अत शास्त्री जी का मन्तव्य आधाररहित है। यह स्पष्ट है कि जैनधर्म वैदिकधर्म की शाखा नही है। यद्यपि अनेक विद्वान इस भ्रान्ति के शिकार हुए है। जैसे कि—

प्रो० लासेन ने लिखा है—"बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति है, क्योकि जैन और बौद्ध परम्परा की मान्यताओ मे अनेकविध समानता है।"[४]

प्रो० वेवर ने लिखा है—"जैनधर्म, बौद्धधर्म की एक शाखा है, वह उससे स्वतत्र नही है।"[५]

किंतु उन विद्वानो की भ्राति का निरसन प्रो० याकोबी ने अनेक अकाट्य तर्कों के आधार से किया और अन्त मे यह स्पष्ट बताया कि जैन और बौद्ध दोनो सम्प्रदाय स्वतत्र है, इतना ही नही बल्कि जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र महावीर तो उस सम्प्रदाय के अन्तिम पुरस्कर्ता मात्र है।"[६]

---

२ वैदिक सस्कृति का विकास, पृ० १५-१६,

३ वैदिक माइथोलॉजी, पृ० ३१६

४ S B E Vol 22, Introduction, p 19

५ वही, पृ० १८

६ वही

जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म का अध्ययन करते हैं तब सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैनधर्म विभिन्न युगो मे विभिन्न नामो द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिक काल से आरण्यक काल तक वह वातरशन मुनि या वातरशन श्रमणो के नाम से पहचाना गया है। ऋग्वेद मे वातरशन मुनि का वर्णन है।[७] तैत्तिरीय-आरण्यक मे केतु, अरुण और वातरशन ऋषियो की स्तुति की गई है।[८] आचार्य सायण के मतानुसार केतु, अरुण और वातरशन ये तीनो ऋषियो के सघ थे।[९] वे अप्रमादी थे।[१०] श्रीमद्‌भागवत के अनुसार भी वातरशन श्रमणो के धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव ने किया।[११]

तैत्तिरीयारण्यक मे भगवान ऋषभदेव के शिष्यो को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[१२]

'व्रात्य' शब्द भी वातरशन शब्द का सहचारी है। वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नही थे, क्योकि प्रारभ मे वैदिक परम्परा मे सन्यास और मुनि पद का स्थान नही था।[१३]

जैनधर्म के प्राचीन नाम

जैनधर्म का दूसरा नाम 'आर्हत धर्म' भी अत्यधिक विश्रुत रहा है। जो 'अर्हत्' के उपासक थे वे 'आर्हत्' कहलाते थे। वे वेद और ब्राह्मणो को नही मानते थे। ऋग्वेद मे वेद और ब्रह्म के उपासक को 'बार्हत' कहा गया है। वेदवाणी को बृहती कहते हैं। बृहती की उपासना करने वाले बार्हत कहलाते हैं। वेदो की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी होते थे। वे इन्द्रियो का सयमन कर वीर्य की रक्षा करते थे और इस प्रकार

---

७ मुनयो वातरशना· पिशङ्गा वसते मला।

—ऋग्वेद सहिता १०।११।१

८ केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशना प्रतिष्ठा शतधा हि समाहिता सो सहस्र-धायसम्।

—तैत्तिरीय आरण्यक १।२१।३।१।२४

९ तैत्तिरीय आरण्यक १।३१।६

१० केत्वरुण वातरशन शब्दा ऋषि सघानाचक्षते।
ते सर्वेऽपि ऋषिसघा: समाहित। सोऽप्रमत्ता सन्त उपदधतु।

—तैत्तिरीयारण्यक भाष्य १।२१।३

११ श्रीमद्‌भागवत ११।६।१२

१२ वातरशनाह् या ऋषय श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः।

—तैत्तिरीयारण्यक २।७।१

१३ साहित्य और सस्कृति, पृ० २०८, देवेन्द्र मुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, कचौडी गली, वाराणसी।

वेदो की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी साधक 'बार्हत' कहलाते थे।[१४] बार्हत ब्रह्म या ब्राह्मण सस्कृति के पुरस्कर्ता थे। वे वैदिक यज्ञ-याग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे।

आर्हत लोग यज्ञो मे विश्वास न कर कर्मबध और कर्मनिर्जरा को मानते थे। प्रस्तुत आर्हत धर्म को 'पद्मपुराण' मे सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है।[१५] इस धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं।

ऋग्वेद मे अर्हन् को विश्व की रक्षा करने वाला सर्वश्रेष्ठ कहा है।[१६]

शतपथ ब्राह्मण मे भी अर्हन् का आह्वान किया गया है और अन्य कई स्थलो पर उन्हे 'श्रेष्ठ' कहा गया है।[१७] सायण के अनुसार भी अर्हन् का अर्थ योग्य है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कल्पसूत्र मे भगवान् अरिष्टनेमि व अन्य तीर्थंकरो के लिए 'अर्हत्' विशेषण का प्रयोग किया है।[१८] इसिभाषिय के अनुसार भगवान् अरिष्ट-नेमि के तीर्थकाल मे प्रत्येकबुद्ध भी 'अर्हत्' कहलाते थे।[१९]

पद्मपुराण[२०] और विष्णुपुराण[२१] मे जैनधर्म के लिए 'आर्हत् धर्म' का प्रयोग मिलता है।

आर्हत शब्द की मुख्यता भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल तक चलती रही।[२२]

महावीर-युगीन साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि उस समय 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्य रूप से व्यवहृत हुआ है।[२३] बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर भगवान् महावीर को निग्गथ नायपुत्त कहा है।[२४]

---

१४ ऋग्वेद १०।८५।४।

१५ **आर्हतं सर्वमेतश्च, मुक्तिद्वारमसंवृतम्।**
धर्माद् विमुक्तेरर्होऽयं न तस्मादपर परः॥ —पद्मपुराण १३।३५०

१६ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१।३, ७।१८।२२, १०।२।२।, ६६।७। तथा १०।८५।४, ऐ प्रा० ५।२।२, शा० १५।४, १८।२, २३।१ ऐ० ४।१०

१७ ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तै० आ० ४।५।७, ५।४।१० आदि-आदि

१८ कल्पसूत्र, देवेन्द्र मुनि सम्पादित, सूत्र १६१-१६२ आदि

१९ इसिभाषिय १।२०

२० पद्मपुराण १३।३५०

२१ विष्णुपुराण ३।१८।१२

२२ (क) बाबू छोटेलाल स्मृति ग्रन्थ, पृ० २०१
(ख) अतीत का अनावरण, पृ० ६०

२३ (क) आचाराग, १।३।१।१०८
(ख) **निग्गंथ पावयणं**— —भगवती ९।६।३८६

२४ (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त, १८।२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग, पृ० २४२

अशोक के शिलालेखो मे भी निग्गठ शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[२५] भगवान महावीर के पश्चात् आठ गणधरो या आचार्यों तक 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्य रूप से रहा है।[२६] वैदिक ग्रन्थो मे भी निर्ग्रन्थ शब्द मिलता है।[२७] सातवी शताब्दी मे बगाल मे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय प्रभावशाली था।[२८]

दशवैकालिक[२९], उत्तराध्ययन[३०] और सूत्रकृताङ्ग[३१] आदि आगमो मे जिन शासन, जिनमार्ग, जिनवचन शब्दो का प्रयोग हुआ है। किंतु 'जैनधर्म' इस शब्द का प्रयोग आगम ग्रन्थो मे नही मिलता। सर्वप्रथम 'जैन' शब्द का प्रयोग जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यकभाष्य मे देखने को प्राप्त होता है।[32]

उसके पश्चात् के साहित्य मे जैनधर्म शब्द का प्रयोग विशेष रूप से व्यवहृत हुआ है। मत्स्यपुराण[33] मे 'जिनधर्म' और देवी भागवत[३४] मे 'जैनधर्म' का उल्लेख प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि देशकाल के अनुसार शब्द बदलते रहे हैं, किंतु शब्दो के बदलते रहने से 'जैनधर्म' का स्वरूप अर्वाचीन नही हो सकता। परम्परा की दृष्टि से उसका सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव से है।

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैवधर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णवधर्म और

---

२५ इमे वियापरा हो हृति त्ति निग्गठेसु पि मे करे।
—प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, द्वि० खण्ड, पृ० १९

२६ पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृ० ४५

२७ (क) कन्थाकौपीनोत्तरा सङ्गादीना त्यागिनो यथाजातरूपधरा 'निर्ग्रन्था' निष्परिग्रहा इति सवर्तश्रुति।
—तैत्तिरीय-आरण्यक १०।६३, सायण भाष्य, भाग-२, पृ० ७७८

(ख) जाबालोपनिषद्

२८ द एज आव इम्पीरियल कन्नौज, पृष्ठ २८८

२९ (क) सोच्चाण जिण-सासण—दशवैकालिक ८।२५

(ख) जिणमयं, वही ९।३।१५

३० जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयण जे करेंति भावेण। —उत्तराध्ययन, ३६।२६४

३१ सूत्रकृताग

३२ (क) जेण तित्थ—विशेषावश्यकभाष्य, गा० १०४३

(ख) तित्थ-जइण—वही, गा० १०४५-१०४६

३३ मत्स्यपुराण ४।१३।५४

३४ गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति।
जिनधर्मं समास्थाय वेद बाह्यं स वेदवित्॥
दम्भरूप धर सौम्य बोधयन्त छलेन तान्।
जैनधर्मं कृत स्वेन, यज्ञ निन्दापर तथा॥ —देवी भागवत ४।१३।५४

बुद्ध के नाम पर बौद्धधर्म प्रचलित है, वैसे ही जैनधर्म किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर प्रचलित नही है और न यह धर्म किसी व्यक्ति विशेष का पूजक ही है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर का धर्म नही कहा गया है। यह आर्हतो का धर्म है, जिनधर्म है। जैनधर्म के मूलमत्र **नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूण**'[३५] मे किसी व्यक्तिविशेष को नमस्कार नही किया गया है। जैनधर्म का स्पष्ट अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष कर मानव से महामानव बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है।

तीर्थ और तीर्थंकर

तीर्थंकर शब्द जैनधर्म का मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कब और किस समय प्रचलित हुआ, यह कहना अत्यधिक कठिन है। वर्तमान इतिहास से इसका आदि सूत्र नही ढूढा जा सकता। निस्सदेह यह शब्द उपलब्ध इतिहास से बहुत पहले प्राग्-ऐतिहासिक काल मे भी प्रचलित था। जैन-परम्परा मे इस शब्द का प्राधान्य रहने के कारण बौद्ध साहित्य मे भी इसका प्रयोग किया गया है, बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर 'तीर्थंकर' शब्द व्यवहृत हुआ है।[३६] सामञ्ञफलसुत्त मे छह 'तीर्थंकरो' का उल्लेख किया है[३७] किंतु यह स्पष्ट है कि जैनसाहित्य की तरह मुख्य रूप से यह शब्द वहाँ प्रचलित नही रहा है। कुछ ही स्थलो पर इसका उल्लेख हुआ किंतु जैनसाहित्य मे इस शब्द का प्रयोग अत्यधिक मात्रा मे हुआ है। तीर्थंकर जैनधर्म-सघ का पिता है, सर्वेसर्वा है। जैनसाहित्य मे खूब ही विस्तार से 'तीर्थंकर' का महत्त्व अङ्कित किया गया है। आगम साहित्य से लेकर स्तोत्र-साहित्य तक मे तीर्थंकर का महत्त्व प्रतिपादित है। चतुर्विंशतिस्तव और शक्रस्तव मे तीर्थंकर के गुणो का जो उत्कीर्तन किया गया है, उसे पढकर तीर्थकर की गरिमा-महिमा का एक भव्य चित्र सामने प्रस्तुत हो जाता है तथा साधक का हृदय श्रद्धा से विनत हो जाता है।

जो तीर्थ का कर्ता या निर्माता होता है वह तीर्थंकर कहलाता है। जैन परिभाषा के अनुसार तीर्थ शब्द का अर्थ धर्म-शासन है।

जो ससार-समुद्र से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की सस्थापना करते है वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये धर्म है। इस धर्म को धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका हैं। इस चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा गया है।[३८] इस तीर्थ की जो स्थापना करते है, उन विशिष्ट व्यक्तियो को तीर्थंकर कहते हैं।

---

३५ भगवती सूत्र, मगलाचरण

३६ देखिए बौद्ध साहित्य का लकावतार सूत्र

३७ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, पृ० १६—२२ हिन्दी अनुवाद

३८ (क) **तित्थं पुण चाउवन्नाइन्ने समणसघो—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ।** —भगवती सूत्र, शतक २, उ० ८, सूत्र ६८२

(ख) स्थानाग ४।३

सस्कृत साहित्य मे तीर्थ शब्द 'घाट' के लिए भी व्यवहृत हुआ है। जो घाट के निर्माता हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। सरिता को पार करने के लिए घाट की कितनी उपयोगिता है, यह प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति जानता है। ससार रूपी एक महान् नदी है, उसमे कही पर क्रोध के मगरमच्छ मुँह फाडे हुए है, कही पर माया के जहरीले साँप फूत्कार कर रहे हैं तो कही पर लोभ के भँवर हैं। इन सभी को पार करना कठिन है। साधारण साधक विकारो के भवर मे फस जाते हैं। कषाय के मगर उन्हें निगल जाते हैं। अनन्त दया के अवतार तीर्थंकर प्रभु ने साधको की सुविधा के लिए धर्म का घाट बनाया, अणुव्रत और महाव्रतो की निश्चित योजना प्रस्तुत की, जिससे प्रत्येक साधक इस ससार रूपी भयकर नदी को सहज ही पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल अर्थात् सेतु भी है। चाहे कितनी ही बडी से बडी नदी क्यो न हो, यदि उस पर पुल है तो निर्बल-से-निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमता से पार कर सकता है। तीर्थंकरो ने संसार रूपी नदी को पार करने के लिए धर्म-शासन अथवा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूपी सघ स्वरूप पुल का निर्माण किया है। आप अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार इस पुल पर चढकर ससार को पार कर सकते हैं। धार्मिक साधना के द्वारा अपने जीवन को पावन बना सकते है। तीर्थंकरो के शासन-काल मे हजारो, लाखो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर जीवन को परम पवित्र व विशुद्ध बनाकर मुक्त होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि वर्तमान अवसर्पिणीकाल मे भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम तीर्थ की सस्थापना की अत उन्हे तो तीर्थंकर कहना चाहिए परन्तु उनके पश्चाद्वर्ती तेवीस महापुरुषो को तीर्थंकर क्यो कहा जाये?

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि धर्म की व्यवस्था जैसी एक तीर्थंकर करते हैं वैसी ही व्यवस्था दूसरे तीर्थंकर भी करते हैं, अत एक ऋषभदेव को ही तीर्थंकर मानना चाहिए अन्य को नही।

उल्लिखित प्रश्नो के उत्तर मे निवेदन है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त आदि जो धर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्त है, वे शाश्वत सत्य और सदा-सर्वदा अपरिवर्तनीय हैं। अतीत के अनन्तकाल मे जो अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान मे जो श्री सीमधर स्वामी आदि तीर्थंकर हैं और अनागत अनन्तकाल मे जो अनन्त तीर्थंकर होने वाले है उन सबके द्वारा धर्म के मूल स्तम्भस्वरूप इन शाश्वत सत्यो के सबध मे समान रूप से प्ररूपणा की जाती रही है, की जा रही है और की जाती रहेगी। धर्म के मूल तत्त्वो के निरूपण मे एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर का किंचित्मात्र भी मतभेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा, परन्तु प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय मे देश, काल व जनमानस की ऋजुता, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान मे रखते हुए उस काल और उस काल के मानव के अनुरूप साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका के लिए अपनी-अपनी एक नवीन आचार-संहिता का निर्माण करते है।

एक तीर्थंकर द्वारा सस्थापित श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ मे काल-प्रभाव से जब एक अथवा अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, तीर्थ मे लम्बे व्यवधान तथा अन्य कारणो से भ्रान्तियाँ पनपने लगती है, कभी-कभी तीर्थ विलुप्त अथवा विलुप्तप्राय, विशृ खल अथवा शिथिल हो जाता है, उस समय दूसरे तीर्थंकर का समुद्भव होता है और वे विशुद्धरूपेण नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं, अत वे तीर्थकर कहलाते है । उनके द्वारा धर्म के प्राणभूत ध्रुव सिद्धान्त उसी रूप मे उपदिष्ट किये जाते है, केवल बाह्य क्रियाओ एव आचार-व्यवहार आदि का प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे न्यूनाधिक वैभिन्न्य होता है ।

जब पुराने घाट ढह जाते हैं, विकृत अथवा अनुपयुक्त हो जाते है, तब नवीन घाट निर्माण किये जाते है । जब धार्मिक विधि-विधानो मे विकृति आ जाती है तब तीर्थंकर उन विकृतियो को नष्ट कर अपनी दृष्टि से पुन धार्मिक विधानो का निर्माण करते है । तीर्थंकरो का शासन भेद इस बात का ज्वलत प्रमाण है । मैंने इस सम्बन्ध मे 'भगवान पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन' ग्रन्थ मे विस्तार से विवेचन किया है । जिज्ञासु पाठको को वहाँ देखना चाहिये ।[३९]

तीर्थंकर अवतार नहीं

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैनधर्म ने तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार या अश नही माना है और न दैवी सृष्टि का अजीब प्राणी ही स्वीकार किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर का जीव अतीत मे एक दिन हमारी ही तरह सासारिक प्रवृत्तियो के दल-दल मे फँसा हुआ था, पापरूपी पक से लिप्त था, कषाय की कालिमा से कलुषित था, मोह की मदिरा से मत्त था, आधि-व्याधि और उपाधियो से सत्रस्त था । हेय, ज्ञेय और उपादेय का उसे भी विवेक नही था । भौतिक व इन्द्रिय-जन्य सुखो को सच्चा सुख समझकर पागल की तरह उसके पीछे दौड रहा था किन्तु एक दिन महान् पुरुषो के सग से उसके नेत्र खुल गये । भेद-विज्ञान की उपलब्धि होने से तत्त्व की अभिरुचि जागृत हुई । सही व सत्य स्थिति का उसे परिज्ञान हुआ ।

किंतु कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि मिथ्यात्व के पुन आक्रमण से उस आत्मा के ज्ञान नेत्र धुँधले हो जाते है और वह पुन मार्ग को विस्मृत कर कुमार्ग पर आरूढ हो जाता है और लम्बे समय के पश्चात् पुन सन्मार्ग पर आता है तब वासना से मुँह मोड कर साधना को अपनाता है उत्कृष्ट तप व सयम की आराधना करता हुआ एक दिन भावो की परम निर्मलता से तीर्थंकर नामकर्म का बध करता है और फिर वह तृतीय भव से तीर्थंकर बनता है[४०] किंतु यह भी नही भूलना चाहिए कि जब

---

३९ 'भगवान पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ३-२५ प्रकाशक—प० मुनि श्रीमल प्रकशन, २५९ नाना पेठ, पूना न० २, सन् १९६१

तक तीर्थंकर का जीव संसार के भोग-विलास में उलझा हुआ है, तब तक वह वस्तुतः तीर्थंकर नहीं है। तीर्थंकर बनने के लिए उस अन्तिम भव में भी राज्य-वैभव को छोड़ना होता है। श्रमण बन कर स्वयं को पहले महाव्रतों का पालन करना होता है, एकान्त-शान्त-निर्जन स्थानों में रहकर आत्म-मनन करना होता है, भयंकर-से-भयंकर उपसर्गों को शान्तभाव से सहन करना होता है। जब साधना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का घाति चातुष्टय नष्ट होता है तब केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति होती है। उस समय वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप तीर्थ की संस्थापना करते हैं, तब वस्तुतः तीर्थंकर कहलाते हैं।

उत्तारवाद

वैदिक परम्परा का विश्वास अवतारवाद में है। गीता के अभिमतानुसार ईश्वर अज, अनन्त और परात्पर होने पर भी अपनी अनन्तता को अपनी मायाशक्ति से संकुचित कर शरीर को धारण करता है। अवतारवाद का सीधा-सा अर्थ है ईश्वर का मानव के रूप में अवतरित होना, मानव शरीर से जन्म लेना। गीता की दृष्टि से ईश्वर तो मानव बन सकता है, किंतु मानव कभी ईश्वर नहीं बन सकता। ईश्वर के अवतार लेने का एकमात्र उद्देश्य है सृष्टि के चारों ओर जो अधर्म का अंधकार छाया हुआ होता है, उसे नष्ट कर धर्म का प्रकाश, साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना करना।[४१]

जैनधर्म का विश्वास अवतारवाद में नहीं है, वह उत्तारवाद का पक्षधर है। अवतारवाद में ईश्वर को स्वयं मानव बन कर पुण्य-पाप करने पड़ते हैं। भक्तों की रक्षा के लिए उसे संहार भी करना पड़ता है। स्वयं राग-द्वेष से मुक्त होने पर भी भक्तों के लिए उसे राग भी करना पड़ता है और द्वेष भी। वैदिक परम्परा में विचारकों ने इस विकृति को लीला कह कर उस पर आवरण डालने का प्रयास किया है। जैन दृष्टि ने मानव के उत्तार का समर्थन किया है। वह प्रथम विकृति से संस्कृति की ओर बढ़ता है, फिर प्रकृति में पहुंच जाता है। राग-द्वेष युक्त जो मिथ्यात्व की अवस्था है, वह विकृति है। राग-द्वेष मुक्त जो सदेह वीतराग अवस्था है, वह संस्कृति है। पूर्ण रूप से कर्मों से मुक्त जो शुद्ध सिद्ध अवस्था है, वह प्रकृति है। सिद्ध बनने का तात्पर्य है कि अनन्तकाल के लिए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति में लीन हो जाना। वहाँ कर्मबंध और कर्मबंध के कारणों का सर्वथा अभाव होने से जीव पुनः संसार

---

४१ यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहं॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ४।७-८

मे नही आता। उत्तारवाद का अर्थ है मानव का विकारी जीवन के ऊपर उठकर भगवान के अविकारी स्वरूप तक पहुँच जाना, पुन उस विकार दशा मे कभी लिप्त न होना। तात्पर्य है कि जैनधर्म का तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नही है। जो लोग तीर्थंकरो को अवतार मानते है, वे भ्रम मे है। उनकी शब्दावली दार्शनिक नही, लौकिक धारणाओ के अज्ञान से बँधी है। जैनधर्म का यह स्पष्ट आघोष है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना के द्वारा आन्तरिक शक्तियो का विकास कर तीर्थंकर बन सकता है। तीर्थंकर बनने के लिए जीवन मे आन्तरिक शक्तियो का विकास परमावश्यक है।

तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्माओ मे अन्तर

जैनधर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर और अन्य मुक्त होने वाली आत्माओ मे आन्तरिक दृष्टि से कोई अन्तर नही है। केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रभृति आत्मिक शक्तियाँ दोनो मे समान होने के बावजूद भी तीर्थंकरो मे कुछ बाह्य विशेषताएँ होती है जिनका वर्णन भगवान महावीर . एक अनुशीलन ग्रन्थ मे 'तीर्थंकरो की विशेषता' शीर्षक मे किया गया है। ये लोकोपकारी सिद्धियाँ तीर्थंकरो मे ही होती हैं। वे प्राय तीर्थंकरो के समान धर्म-प्रचारक भी नही होते। वे स्वय अपना विकास कर मुक्त हो जाते है किंतु जन-जन के अन्तर्मानस पर चिरस्थायी व अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभाव तीर्थंकर जैसा नही जमा पाते। जैनधर्म ढाई द्वीप मे पन्द्रह कर्म-भौमिक क्षेत्र मानता है। उनमे एक सौ सत्तर क्षेत्र ऐसे माने गये है जहाँ पर तीर्थंकर विचरते है। एक समय मे एक क्षेत्र मे सर्वज्ञ अनेक हो सकते हैं किन्तु तीर्थंकर एक समय मे एक ही होते हैं। एक सौ सत्तर क्षेत्र तीर्थंकरो के विचरण-क्षेत्र है अत एक साथ एक सौ सत्तर तीर्थंकर हो सकते है, इससे अधिक तीर्थंकर एक साथ नही होते। तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्माओ मे जो यह अन्तर है वह देहधारी अवस्था मे ही रहता है, देह-मुक्त अवस्था मे नही। सिद्ध रूप मे सब आत्माएँ एक समान है।

चौबीस तीर्थंकर

प्रस्तुत अवसर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। चौबीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे सबसे प्राचीन उल्लेख दृष्टिवाद के मूल प्रथमानुयोग मे था पर आज वह अनुपलब्ध है।[४२] आज सबसे प्राचीन उल्लेख समवायाङ्ग[४३], कल्पसूत्र[४४], आवश्यक निर्युक्ति[४५], आवश्यक मलयगिरिवृत्ति,[४६] आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति[४७] और आवश्यक-

---

४२ (क) समवायाङ्ग सूत्र १४७
 (ख) नन्दीसूत्र, सूत्र ५६, पृ० १५१-१५२, पूज्य श्री हस्तीमल जी महाराज द्वारा सम्पादित

४३ समवायाङ्ग २४

४४ कल्पसूत्र—तीर्थंकर वर्णन

४५ आवश्यक निर्युक्ति ३६९

४६ भाग ३, आगमोदय समिति

४७ भाग ३, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फड, सूरत।

चूर्णि[४८] मे मिलता है। इसके पश्चात् चउप्पन्न महापुरिसचरिय,[४९] त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र,[५०] महापुराण,[५१] उत्तरपुराण[५२] आदि ग्रन्थो मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्वतन्त्र रूप मे एक-एक तीर्थंकर पर विभिन्न आचार्यो ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी व अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे अनेकानेक ग्रन्थ लिखे है व लिखे जा रहे है।

चौवीस अवतार

जैनधर्म मे चौवीस तीर्थंकरो की इतनी अधिक महिमा रही है कि वैदिक और बौद्ध परम्परा ने भी उसका अनुसरण किया। वैदिक परम्परा अवतारवादी है इसलिए उसने तीर्थंकर के स्थान पर चौवीस अवतार की कल्पना की है। जब हम पुराण साहित्य का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करते है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि अवतारो की संख्या एक सी नही है। भागवत पुराण मे अवतारो के तीन विवरण मिलते हैं जो अन्य पुराणो मे प्राप्त होने वाली दशावतार परम्परा से किञ्चित् पृथक हैं। भागवत मे एक स्थान पर भगवान के असंख्य अवतार बताए हैं।[५३]

दूसरे स्थान पर सोलह, बावीस और चौवीस को प्रमुख माना है।[५४] दशम स्कंध की एक सूची मे बारह अवतारो के नाम गिनाए गये हैं।[५५] इससे अवतारो की परम्परा का परिज्ञान होता है। उक्त सूची मे आगे चलकर पांचरात्र वासुदेव के ही पर्याय विभवो की संख्या २४ से बढकर ३९ तक हो गई है।[५६]

---

४८ भाग १-२ रतलाम
४९ (क) आचार्य शीलाङ्क रचित,
(ख) चौप्पन्न महापुरुषोना चरितो—अनुवाद आ० हेमसागर जी
५० आचार्य हेमचन्द्र—प्र०, जैन धर्म सभा, भावनगर
५१ आचार्य जिनसेन—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
५२ आचार्य गुणभद्र—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
५३ भागवत पुराण १।३।२६
५४ भागवत पुराण १०।२।४०
५५ भागवत पुराण १०।२।४०
५६ भाण्डारकर ने हेमाद्रि द्वारा उद्धृत और वृहद्हारित स्मृति १०।५।१४५ मे प्राप्त उन २४ विभवो का उल्लेख किया है। उन विभवो के नाम इस प्रकार है—(१) केशव (२) नारायण (३) माधव (४) गोविन्द (५) विष्णु (६) मधुसूदन (७) त्रिविक्रम (८) वामन (९) श्रीधर (१०) हृषिकेश (११) पद्मनाभ (१२) दामोदर (१३) संकर्षण (१४) वासुदेव (१५) प्रद्युम्न (१६) अनिरुद्ध (१७) पुरुषोत्तम (१८) अधोक्षज (१९) नरसिंह (२०) अच्युत (२१) जनार्दन (२२) उपेन्द्र (२३) हरि (२४) श्रीकृष्ण।

भागवत के आधार पर लघु-भागवतामृत मे यह संख्या २५ तथा 'सात्वत तंत्र' मे लगभग ४१ से भी अधिक हो गई है।[५७] इस तरह मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायो मे भी कोई सर्वमान्य सूची गृहीत नही हुई है।

हिन्दी साहित्य मे चौबीस अवतारो का वर्णन है। उसमे भागवत की तीनो सूचियो का समावेश किया गया है। सूरदास[५८] बारहठ[५९] रामानन्द[६०] रज्जव[६१] वैजू[६२] लखनदास[६३] नाभादास[६४] आदि ने भी चौबीस अवतारो का वर्णन किया है।

ये विष्णु के चौबीस अवतारो की अपेक्षा चौबीस नाम ही अधिक उचित प्रतीत होते है, क्योकि अवतार और विभवो मे यह अन्तर है कि अवतारो को उत्पन्न होने वाला माना है वहाँ पर विभव 'अजहत्' स्वभाव वाले है। जिस प्रकार दीप से दीप प्रज्वलित होता है वैसे ही वे उत्पन्न होते है।

'तत्त्वत्रय' पृष्ठ १९२ के अभिमतानुसार पाँचरात्रो मे पृष्ठ २६ एव पृष्ठ ११२-११३ मे उद्धृत 'विष्वक्सेन संहिता' और 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (५, ५०-५७) मे ३९ विभवो के नाम दिये है।

श्रेडर ने 'इन्ट्राडक्शन टू अहिर्बुध्न्यसंहिता' पृष्ठ ४१-४९ पर भागवत के अवतारो के साथ तुलना करते हुए उनमे चौबीस अवतारो का समावेश किया है। ३९ विभवो के नाम इस प्रकार ८ —(१) पद्मनाभ (२) ध्रुव (३) अनन्त (४) शक्त्यात्मन (५) मधुसूदन (६) विद्याधिदेव (७) कपिल (८) विश्वरूप (९) विहगम (१०) क्रोधात्मन (११) वाडवायक्त्र (१२) धर्म (१३) वागीश्वर (१४) एकार्णवशायी (१५) कमठेश्वर (१६) वराह (१७) नृसिंह (१८) पीयूषहरन (१९) श्रीपति (२०) कान्तात्मन (२१) राहुजीत (२२) कालनेमिहन (२३) पारिजातहर (२४) लोकनाथ (२५) शान्तात्मा (२६) दत्तात्रेय (२७) न्यग्रोधशायी (२८) एकश्रृंगतनु (२९) वामनदेव (३०) त्रिविक्रम (३१) नर (३२) नारायण (३३) हरि (३४) कृष्ण (३५) परशुराम (३६) राम (३७) देवविधि (३८) कल्कि (३९) पातालशयन।

—कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भाण्डारकर, पृ० ६६-६७

५७ लघुभागवतामृत, पृ० ७०, श्लोक ३२, सात्वततंत्र, द्वितीय पटल

५८ सूरसागर पृ० १२६, पद ३७८

५९ अवतार चरित, स० १७३३, नागरी प्रचारिणी, सभा (हस्तलिखित प्रति)

६० न तहाँ चौबीसूँ बप बरन।

—रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, नागरी प्रचारिणी, सभा पृ० ८६

६१ एक कहे अवतार दस, एक कहे चौबीस—रज्जब जी की बानी, पृ० ११८

६२ आप अवतार भये, चौबीस वपुधर—रागकल्पद्रुम, जिल्द १, पृ० ४५

६३ चतुर्विंश लीलावतारी—रागकल्पद्रुम, जि० १ पृ० ५१९

६४ चौबीस रूप लीला रुचिर

इन चौवीस अवतारो मे मत्स्य, वराह, कूर्म, आदि अवतार पशु हैं, हंस पक्षी है, कुछ अवतार पशु और मानव दोनो के मिश्रित रूप हैं जैसे नृसिंह, हयग्रीव आदि ।

वैदिक परम्परा मे अवतारो की सख्या मे क्रमश परिवर्तन होता रहा है। जैन तीर्थंकरो की तरह उनका व्यवस्थित रूप नही मिलता । इतिहासकारो ने 'भागवत' की प्रचलित चौवीस अवतारो की परम्परा को जैनो से प्रभावित माना है । श्री गौरीचन्द हीराचन्द ओझा का मन्तव्य है कि चौवीस अवतारो की यह कल्पना भी बौद्धो के चौवीस बुद्ध और जैनो के चौवीस तीर्थंकरो की कल्पना के आधार पर हुई है ।[६५]

चौवीस बुद्ध

भागवत मे जिस प्रकार विष्णु, वासुदेव या नारायण के अनेक अवतारो की चर्चा की गई है उसी प्रकार लकावतारसूत्र मे कहा गया है कि बुद्ध अनन्त रूपो मे अवतरित होंगे और सर्वत्र अज्ञानियो मे धर्म-देशना करेंगे ।[६६] लकावतारसूत्र मे भागवत के समान चौवीस बुद्धो का उल्लेख है ।

सूत्रालकार[६७] मे बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्न का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कोई भी मनुष्य प्रारम्भ से ही बुद्ध नही होता । बुद्धत्व की उपलब्धि के लिए पुण्य और ज्ञान-सभार की आवश्यकता होती है । तथापि बुद्धो की सख्या मे अभिवृद्धि होती गई । प्रारम्भ मे यह मान्यता रही कि एक साथ दो बुद्ध नही हो सकते किन्तु महायान मत ने एक समय मे अनेक बुद्धो का अस्तित्व स्वीकार किया है । उनका मन्तव्य है कि एक लोक मे अनेक बुद्ध एक साथ हो सकते हैं ।[६८]

इससे बुद्धो की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई है । सद्धर्म पुडरीक मे अनन्त बोधिसत्व बताये गये हैं और उनकी तुलना गगा की रेती के कणो से की गई है । इन सभी बोधिसत्वो को लोकेन्द्र माना है ।[६९] उसके पश्चात् यह उपमा बुद्धो के लिए रूढ सी हो गई है ।[७०]

लकावतारसूत्र मे यह भी कहा गया है कि बुद्ध किसी भी रूप को धारण कर सकते हैं, कितने ही सूत्रो मे यह भी बताया गया है कि गगा की रेती के समान असख्य बुद्ध भूत, वर्तमान और भविष्य मे तथागत रूप होते हैं ।[७१] जैसे विष्णुपुराण और भागवत मे विष्णु के असख्य अवतार माने गये हैं वैसे ही बुद्ध भी असख्य अवतरित होते

---

६५ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (संस्करण १९५१) पृ० १३,

६६ लकावतारसूत्र ४०, पृ० २२६

६७ सूत्रालकार ९।७७

६८ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १०४, १०५

६९ सद्धर्म पुण्डरीक १४।९ पृ० ३०२

७० मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद पृ० २२

७१ लकावतारसूत्र पृ० १९८

है। जहाँ भी लोग अज्ञान अधकार मे छटपटाते हैं वहाँ पर बुद्ध का धर्मोपदेश सुनने को मिलता है।[७२]

बौद्ध साहित्य मे प्रारम्भ मे पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए बुद्ध के असख्य अवतारो की कल्पना की गई किन्तु बाद मे चलकर बुद्ध के अवतारो की सख्या ५, ७, २४ और ३६ तक सीमित हो गई।

जातककथाओ का दूरेनिदान, अविदूरेनिदान और सन्तिकेनिदान के नाम से जो विभाजन किया गया है उनमे से दूरेनिदान[७३] मे एक कथा इस प्रकार प्राप्त होती है।

"प्राचीनकाल मे सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्ही के समय दीपकर बुद्ध उत्पन्न हुए। लोग दीपकर बुद्ध के स्वागत हेतु मार्ग सजा रहे थे। सुमेध परिव्राजक उस कीचड मे मृगचर्म बिछा कर लेट गया। उस मार्ग से जाते समय सुमेध की श्रद्धा व भक्ति को देखकर बुद्ध ने भविष्यवाणी की—"यह कालान्तर मे बुद्ध होगा।" उसके पश्चात् सुमेध ने अनेक जन्मो मे सभी पारमिताओ की साधना पूर्ण की। उन्होने विभिन्न कल्पो मे चौबीस बुद्धो की सेवा की और अन्त मे लुम्बिनी मे सिद्धार्थ नाम से उत्पन्न हुए।[७४]

प्रस्तुत कथा मे पुनर्जन्म की ससिद्धि के साथ ही विभिन्न कल्पो मे चौबीस बुद्ध हुए यह बताया गया है।

भदन्त शान्तिभिक्षु का मन्तव्य है कि ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी मे चौबीस बुद्धो का उल्लेख हो चुका था।[७५]

ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते है तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि चौबीस तीर्थंकर और चौबीस बुद्ध की अपेक्षा, वैदिक चौबीस अवतार की कल्पना उत्तरवर्ती है, क्योकि महाभारत के परिवर्द्धित रूप मे भी दशावतारो का ही उल्लेख है। महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक के अन्य पुराणो मे १०, ११, १२, १४ और २२ तक की सख्या मिलती है किन्तु चौबीस अवतार का स्पष्ट उल्लेख भागवत (२।७) मे ही मिलता है। श्रीमद्भागवत का काल विद्वान अधिक से अधिक ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं।[७६]

वैदिक परम्परा की तरह बुद्धो की सख्या भी निश्चित नही है। बुद्धो की सख्या अनत भी मानी गई है। ईसा के बाद सात मानुषी बुद्ध माने गए है[७७] और

---

७२ लकावतार सूत्र ४० पृ० २२७

७३ जातक अट्टकथा—दूरेनिदान, पृ० २ से ३६

७४ महायान—भदन्त शान्तिभिक्षु की प्रस्तावना, पृ० १५

७५ मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद पृ० २४

७६ भागवत सम्प्रदाय, पृ० १५३, प० बलदेव उपाध्याय

७७ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १२१, आचार्य नरेन्द्रदेव

फिर चौबीस बुद्ध माने गये है।[७८] महाभारत की एक सूची मे ३२ बुद्धो के नाम मिलते है।[७९] किन्तु जैन साहित्य मे इस प्रकार की विभिन्नता नही है। वहां तीर्थंकरो की सख्या मे एकरूपता है। चाहे श्वेताम्बर ग्रन्थ हो, चाहे दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ हो, उनमे सभी जगह चौबीस तीर्थंकरो का ही उल्लेख है।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चौबीस तीर्थंकरो का उल्लेख समवायाग, भगवती जैसे प्राचीन अग ग्रन्थो मे हुआ है। अग ग्रन्थो के अर्थ के प्ररूपक स्वय भगवान महावीर है और वर्तमान मे जो अग सूत्र प्राप्त है उनके सूत्र रचयिता गणधर सुधर्मा है। भगवान महावीर को ई० पूर्व ५५७ मे केवलज्ञान हुआ और ५२७ मे उनका परिनिर्वाण हुआ।[८०] इस दृष्टि से समवायाग का रचना काल ५५७ से ५२७ के मध्य मे है।[८१] स्पष्ट है कि चौबीस तीर्थंकरो का उल्लेख चौबीस बुद्ध और चौबीस अवतारो की अपेक्षा बहुत ही प्राचीन है। जब जैनो मे चौबीस तीर्थंकरो की महिमा और गरिमा अत्यधिक बढ गई तब सभव है बौद्धो ने और वैदिक परम्परा के विद्वानो ने अपनी-अपनी दृष्टि से बुद्ध और अवतारो की कल्पना की, पर जैनियो के तीर्थंकरो की तरह उनमे व्यवस्थित रूप न आ सका। चौबीस तीर्थंकरो की जितनी सुव्यवस्थित सामग्री जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है उतनी बौद्ध साहित्य मे तथा वैदिक वाङ्मय मे अवतारो की नही मिलती। जैन तीर्थंकर कोई भी पशु-पक्षी आदि नही हुए है, जबकि बौद्ध और वैदिक अवतारो मे यह बात नही है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अनेक स्थलो पर यह कहा है कि "जो पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है वही मैं कह रहा हू।[८२] पर त्रिपिटक मे बुद्ध ने कही भी यह नही कहा कि पूर्व बुद्धो ने[८३] यह कहा है जो मैं कह रहा हूँ"। पर वे सर्वत्र यही कहते है—"मैं ऐसा मानता हू।" इससे भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के पूर्व बौद्धधर्म की कोई भी परम्परा नही थी, जबकि महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा चल रही थी।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव

चौबीस तीर्थंकरो मे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव है। उनके जीवनवृत्त का

---

७८ वही, पृ० १०५

७९ दी बौद्धिस्ट इकानोग्राफी, पृ० १०, विजयघोष भट्टाचार्य

८० आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ० ११७

८१ कितने ही विद्वान् वीर-निर्वाण सवत् ९८० की रचना मानते है, पर यह लेखन का समय है रचना का नही।

८२ व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ५, उद्दे० ९, सू० २२७
वही, श० ९, उद्दे० ३२

८३ मज्झिमनिकाय ५६, अगुत्तरनिकाय

परिचय पाने के लिए आगम व आगमेतर साहित्य ही प्रबल प्रमाण है। जैनदृष्टि से भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे के उपसहारकाल मे हुए है।[८४] चौवीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर और ऋषभदेव के बीच का समय असख्यात वर्ष का है।[८५] वैदिकदृष्टि से ऋषभदेव प्रथम सतयुग के अन्त मे हुए है और राम व कृष्ण के अवतारो से पूर्व हुए हैं।[८६] जैनदृष्टि से आत्मविद्या के प्रथम पुरस्कर्ता भगवान ऋषभदेव हैं।[८७] वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे।[८८] ब्रह्माण्डपुराण मे ऋषभदेव को दस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक माना है।[८९] श्रीमद्भागवत से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वहाँ यह बताया गया है कि वासुदेव ने आठवाँ अवतार नाभि और मरुदेवी के यहाँ धारण किया। वे ऋषभ रूप मे अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमो द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया[९०] एतदर्थ ही ऋषभदेव को मोक्षधर्म की विवक्षा से 'वासुदेवाश' कहा है।[९१]

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। वे सभी ब्रह्मविद्या के पारगामी थे।[९२] उनके नौ पुत्रो को आत्मविद्या विशारद भी कहा है।[९३] उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत तो महायोगी थे।[९४] स्वय ऋषभदेव को योगेश्वर कहा गया है।[९५] उन्होने विविध योगचर्याओ का आचरण किया था।[९६] जैन आचार्य उन्हे योगविद्या के प्रणेता मानते है।[९७]

---

८४ (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (ख) कल्पसूत्र

८५ कल्पसूत्र

८६ जिनेन्द्रमत दर्पण, भाग १, पृ० १०

८७ **धम्माणं कासवो मुह,**—उत्तराध्ययन १६, अध्ययन २५

८८ उसहे णाम अरहा कोसलिए पढमराया, पढमजिणे, पढमकेवली पढमतित्थयरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २।३०

८९ **इह इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन।**
महादेवेन ऋषभेण दसप्रकारो धर्म स्वयमेव चीर्ण। —ब्रह्माण्डपुराण

९० **अष्टमे मरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रम'।**
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतम्। —श्रीमद्भागवत १।३।१३

९१ **तमाहुर्वासुदेवांश मोक्ष धर्म विवक्षया।** —श्रीमद्भागवत ११।२।१६

९२ **अवतीर्ण सुतशत, तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।** —वही ११।२।१६

९३ **श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदा।** —वही ११।२।२०

९४ **येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीत्।**

९५ **भगवान ऋषभदेवो योगेश्वर।** —वही ५।५।६

९६ **नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभ।** —वही ५।५।२५

९७ **योगिकल्पतरु नौमि देव देव वृषध्वजम्।** —ज्ञानार्णव १।२।

हठयोग प्रदीपिका मे भगवान् ऋषभदेव को हठयोग विद्या के उपदेशक के रूप मे नमस्कार किया है।[९८]

ऋषभदेव अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण वैदिक परम्परा मे काफी मान्य रहे है।

महाकवि सूरदास ने उनके व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखा है—नाभि ने पुत्र के लिए यज्ञ किया उस समय यज्ञपुरुष[९९] ने स्वय दर्शन देकर जन्म लेने का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ऋषभ की उत्पत्ति हुई।[१००]

सूरसारावली मे कहा गया है कि प्रियव्रत के वश मे उत्पन्न हरी के ही शरीर का नाम ऋषभदेव था। उन्होने इस रूप मे भक्तो के सभी कार्य पूर्ण किये।[१] अनावृष्टि होने पर स्वय वर्षा होकर बरसे और ब्रह्मावर्त मे अपने पुत्रो को ज्ञानोपदेश देकर स्वय सन्यास ग्रहण किया। हाथ जोडे हुए प्रस्तुत अष्टसिद्धियो को उन्होने स्वीकार नही किया। ये ऋषभदेव मुनि परब्रह्म के अवतार बताये गये है।[२]

नरहरिदास ने भी इनकी अवतार कथा का वर्णन करते हुए इन्हे परब्रह्म, परमपावन व अविनाशी कहा है।[३]

ऋग्वेद मे भगवान् श्री ऋषभदेव को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुखो का नाश करने वाला बतलाते हुए कहा है—"जैसे जल भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्व ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् है उनका शासन वर दे। उनके शासन मे ऋषि परम्परा मे प्राप्त पूर्व ज्ञान आत्मा के शत्रुओ—क्रोधादिक का विध्वसक हो। दोनो ससारी और मुक्त—आत्माएँ अपने ही आत्मगुणो से चमकती है। अत वे राजा है। वे पूर्ण ज्ञान के आगार है और आत्म-पतन नही होने देते।"[४]

९८ श्री आदिनाथ नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

९९ नाभि नृपति सुत हित जग कियौ।
जज्ञ पुरुष तब दरसन दियौ। —सूरसागर, पृ० १५०, पद ४०९

१०० मै हरता करता ससार मे लेहौ नृप गृह अवतार।
रिषभदेव तब जनमे आई, राजा कै गृह बजी बधाई। —सूरसागर, पृ० १५०

१ प्रियव्रत धरेउ हरि निज वपु ऋषभदेव यह नाम।
किन्हे काज सकल भक्तन को अग-अग अभिराम॥ —सूरसारावली, पृ० ४

२ आठो सिद्धि भई सन्मुख जब करी न अगीकार।
जय जय जय श्री ऋषभदेव मुनि परब्रह्म अवतार॥ —सूरसारावली, पृ० ४

३ अवतार लीला। —हस्तलिखित

४ असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिया अस्य शुरुध सन्ति पूर्वी दिवो न पाता विदथस्य धीभि क्षत्र राजाना प्रदिवोदधाथे। —ऋग्वेद ५।२।३

तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की थी कि "मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा विद्यमान है जो आत्मसाधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है वही परमात्मा वन जाता है।" उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की ऋचा से होती है, "जिसके चार शृ ग—अनतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य है। तीन पाद हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र। दो शीर्ष—केवलज्ञान और मुक्ति हैं तथा जो मन, वचन और काय इन तीनो योगो से बद्ध है (संयत है) उस ऋषभ ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मानव के भीतर ही आवास करता है।"[५]

अथर्ववेद[६] और यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं। कही-कही वे प्रतीक शैली मे वर्णित है और कही-कही पर सकेत रूप से उल्लेख है।

अमेरिका और यूरोप के वनस्पति-शास्त्रियो ने अपनी अन्वेषणा से यह सिद्ध किया है कि खाद्य गेहूँ का उत्पादन सबसे पहले हिन्दुकुश और हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेश मे हुआ।[७] सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी यही पता लगता है कि कृषि का प्रारम्भ सर्वप्रथम इस देश मे हुआ था। जैनदृष्टि से भी कृषि विद्या के जनक ऋषभ देव है। उन्होने असि, मसि और कृषि का प्रारम्भ किया था। भारतवर्ष मे ही नही अपितु विदेशो मे भी कही पर वे कृषि के देवता माने जाकर उपास्य रहे है, कही पर वर्षा के देवता माने गये है और कही पर 'सूर्यदेव' मानकर पूजे गये है। सूर्यदेव—उनके केवलज्ञान का प्रतीक रहा है।

चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे हैं। चीनी त्रिपिटको मे उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको 'रोकशब' (Rokshab) कहकर पुकारते हैं।

मध्य एशिया, मिश्र और यूनान तथा फोनेशिया एव फणिक लोगो की भाषा मे वे 'रेशेफ' कहलाये, जिसका अर्थ सीगोवाला देवता है जो ऋषभ का अपभ्रश रूप है[८]

शिवपुराण के अध्ययन से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।[९]

---

५ चत्वारि शृ गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश। —ऋग्वेद

६ अथर्ववेद १६।४२।४

७ वौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५२, लेखक—भरतसिंह उपाध्याय।

८ (क) भगवान् ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता—लेखक, कामताप्रसाद जैन, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वि० ख०, पृ० ४
(ख) वावू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ, पृ० २०४

९ इत्थं प्रभाव ऋषभोऽचनार शंकरस्य मे।
सता गतिर्दीन वन्धुर्नवम. कथितस्तव ॥
ऋषभस्य चरित्रं हि परमपावन महत्।
स्वर्ग्यंयशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं वै प्रयत्नतः ॥ —शिवपुराण ४।४७-४८

डाक्टर राजकुमार जैन ने 'ऋषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ' शीर्षक लेख में विस्तार से ऊहापोह किया है कि भगवान ऋषभदेव और शिव दोनों एक थे। अतः जिज्ञासु पाठकों को वह लेख पढ़ने की प्रेरणा देता हूँ।[१०]

अक्काद और सुमेरों की संयुक्त प्रवृत्तियों से उत्पन्न बेबीलोनिया की संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन मानी जाती है। उनके विजयी राजा हम्मुराबी (२१२३—२०८१ ई० पू०) के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग और पृथ्वी का देवता वृषभ था।[११]

सुमेर के लोग कृषि के देवता के रूप में अर्चना करते थे जिसे आबू या तामुज कहते थे।[१२] वे बैल को विशेष पवित्र समझते थे।[१३] सुमेर तथा बाबुल के एक धर्म शास्त्र में 'अर्हशम्म' का उल्लेख मिलता है।[१४] 'अर्ह' शब्द अर्हत् का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है।

हित्ती जाति पर भी भगवान ऋषभदेव का प्रभाव जान पड़ता है। उनका मुख्य देवता 'ऋतुदेव' था। उसका वाहन बैल था जिसे 'तेशुब' कहा जाता था, जो 'तित्थयर उसभ' का अपभ्रंश ज्ञात होता है।[१५]

ऋग्वेद में भगवान ऋषभ का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[१६] किन्तु टीकाकारों ने साम्प्रदायिक भावना के कारण अर्थ में परिवर्तन कर दिया है जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गये हैं। जब हम साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का चश्मा उतार कर

---

१० मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६०६-६२६
११ बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ, पृ० १०५
१२ विल ड्यूरेन्ट द स्टोरी ऑव सिविलाइजेशन (अवर ओरियण्टल हेरिटेज) न्यूयार्क १९५४, पृ० २१६
१३ वही, पृ० १२७
१४ वही, पृ० १६६
१५ विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा— डा० कामताप्रसाद जैन गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४०३
१६ ऋग्वेद संहिता

मण्डल १	अध्याय २४	सूक्त १६०	मन्त्र १
,, २	,, ४	,, ३३	,, १५
,, ३	,, ८	,, २८	,, ८
,, ६	,, १	,, १	,, ८
,, ६	,, २	,, १६	,, ११
,, १०	,, १२	,, २६	,, १

—आदि-आदि

उन ऋचाओ का अध्ययन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध मे ही कहा गया है ।

वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर ऋषभदेव की स्तुति करता हुआ कहता है—

हे आत्मद्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण मे आना चाहता हूँ, क्योकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है—उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो ! सभी मनुष्यो और देवो मे तुम्ही पहले पूर्वयाया (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो ।"[१७]

ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण परम्परा मे ही नही अपितु ब्राह्मण परम्परा मे भी रहा है । वहाँ उन्हे आराध्यदेव मानकर मुक्त-कठ से गुणानुवाद किया गया है। सुप्रसिद्ध वैदिक साहित्य के विद्वान् प्रो० विरुपाक्ष एम०ए० वेदतीर्थ और आचार्य विनोवा भावे जैसे बहुश्रुत विचारक ऋग्वेद आदि मे ऋषभदेव की स्तुति के स्वर सुनते है ।[१८]

ऋग्वेद मे भगवान ऋषभदेव के लिए 'केशी' शब्द का प्रयोग हुआ है। वात-रशन मुनि के प्रकरण मे केशी की स्तुति की गई है जो स्पष्ट रूप से भगवान ऋषभदेव से सम्बन्धित है ।[१९]

ऋग्वेद के दूसरे स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ है ।[२०] जिस सूत्र मे यह ऋचा आयी है उसकी प्रस्तावना मे निरुक्त के जो **'मुद्‌गलस्य हृता गाव'** प्रभृति श्लोक अङ्कित किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्‌गल ऋषि की गायें तस्कर चुरा कर ले गये थे । उन्हे लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से गायें आगे न भागकर पीछे की ओर लौट पडी । प्रस्तुत ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बताया किन्तु प्रकारान्तर से उन्होने उसे स्वीकार किया है ।[२१]

मुद्‌गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओ का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्‌गल ऋषि

---

१७ ऋग्वेद ३।३४।२

१८ पूज्य गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ इतिवृत्त

१९ ऋग्वेद १०।१३६।१

२० **ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्**
अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत सहानस
ऋच्छन्ति: मा निष्पदो मुद्‌गलानीम् ॥ —ऋग्वेद १०।१०२।६

२१ अथवा अस्य सारथि. सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभ· अवावचीत् भृशम-शब्दयत् इत्यादि । —सायणभाष्य

की गायें (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ी।

तात्पर्य यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थी, वे उनके योग युक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई।

जैन साहित्य के अनुसार जब भगवान ऋषभदेव साधु बने उस समय उन्होंने चार मुष्टि केशो का लोच किया था।[२२] सामान्य रूप से पाँच-मुष्टि केश लोच करने की परम्परा रही है। भगवान केशो का लोच कर रहे थे। दोनो भागो के केशो का लोच करना अवशेष था। उस समय शक्रेन्द्र की प्रार्थना से भगवान् ने उसी प्रकार रहने दिया।[२३] यही कारण है कि केश रखने से वे केशी या केशरियाजी के नाम से विश्रुत हुए। जैसे सिंह अपने केशो के कारण से केशरी कहलाता है वैसे ही ऋषभदेव भी केशी, केशरी और केशरियाजी के नाम से पुकारे जाते है।

भगवान ऋषभदेव, आदिनाथ,[२४] हिरण्यगर्भ[२५] और ब्रह्मा आदि नामो से भी अभिहित हुए है।[२६]

जैन और वैदिक साहित्य मे जिस प्रकार विस्तार से भगवान ऋषभदेव का चरित्र चित्रित किया गया है वैसा बौद्ध साहित्य मे नही हुआ है। केवल कही-कही पर नाम निर्देश अवश्य हुआ है। जैसे 'धम्मपद' मे "उसभ पवर वीर।"[२७] गाथा मे अस्पष्ट रीति से ऋषभदेव और महावीर का उल्लेख हुआ है।[२८]

बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ आप्त के उदाहरण मे ऋषभ और महावीर का निर्देश किया है और बौद्धाचार्य आर्यदेव भी ऋषभदेव को ही जैनधर्म का आद्य प्रचारक माना है। 'आर्यमञ्जुश्री मूलकल्प' मे भारत के आदि सम्राटो मे नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है।[२९]

२२ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—वक्षस्कार २, सूत्र ३०
(ख) सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ। —कल्पसूत्र, सूत्र १९५
(ग) उत्पाटयामास चतुर्भिर्मुष्टिभिः शिरसः कचान्।
चतुसृभ्यो दिग्भ्य शेषामिव दातुमना प्रभु ॥ —त्रिषष्टि० १।३।६७
२३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सूत्र ३० की वृत्ति
२४ ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ० ६६ —देवेन्द्र मुनि
२५ (क) हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्य पुरातन। —महाभारत, शान्तिपर्व
(ख) विशेष विवेचन के लिए देखिए, कल्पसूत्र की प्रस्तावना। —देवेन्द्र मुनि
२६ ऋषभदेव एक परिशीलन—देवेन्द्र मुनि पृ० ६१-६२
२७ धम्मपद ४।२२
२८ इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ३, पृ० ४७३, ७५
२९ प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रत ॥ —आर्यमञ्जुश्री मूलकल्प ३९०

आधुनिक प्रतिभा-सम्पन्न मूर्धन्य चिन्तक भी इस सत्य तथ्य को विना सकोच स्वीकार करने लगे है कि भगवान ऋषभदेव से ही जैन-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है।

डॉक्टर हर्मन जेकोबी लिखते हैं कि 'इसमे कोई प्रमाण नही कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के सस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को ही जैनधर्म का सस्थापक मानने मे एकमत है। इस मान्यता मे ऐतिहासिक सत्य की अत्यधिक सभावना है।'[३०]

डाक्टर राधाकृष्णन्[३१], डाक्टर स्टीवेन्सन[३२] और जयचन्द विद्यालकार[३३] प्रभृति अन्य अनेक विज्ञो का यही अभिमत रहा है।[३४]

अजित तथा अन्य तीर्थंकर

बौद्ध थेरगाथा मे एक गाथा अजित थेर के नाम की आयी है[३५]। उस गाथा की अट्ठकथा मे बताया गया है कि ये अजित ९१ कल्प से पूर्व प्रत्येक बुद्ध हो गये है। जैन साहित्य मे अजित नाम के द्वितीय तीर्थंकर है और सभवत बौद्ध साहित्य मे उन्हे ही प्रत्येकबुद्ध अजित कहा हो क्योकि दोनो की योग्यता, पौराणिकता एव नाम मे साम्य है। महाभारत मे अजित और शिव को एक चित्रित किया गया है। हमारी दृष्टि से जैन तीर्थंकर अजित ही वैदिक-बौद्ध परम्परा मे भी पूज्यनीय रहे हैं और उनके नाम का स्मरण अपनी दृष्टि से उन्होने किया है।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेष नामो का कोष बनाया है। उस कोष मे सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम जैन तीर्थंकरो के आये है। महाभारतकार ने इन तीनो को असुर बताया है[३६]। वैदिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरो का धर्म रहा है। असुर लोग आर्हतधर्म के उपासक थे, इस प्रकार का वर्णन जैन साहित्य मे नही मिलता है किन्तु विष्णुपुराण[३७], पद्मपुराण[३८], मत्स्य-पुराण[३९],

---

३० इण्डि० एण्टि०, जिल्द ९, पृ० १६३

३१ भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २८७

३२ कल्पसूत्र की भूमिका—डॉ० स्टीवेन्सन

३३ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३८४

३४ (क) जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका, पृ १०८
(ख) हिन्दी विश्वकोष, भाग ४, पृ० ४४४।

३५ मरणे मे भयं नत्थि, निकन्ति नत्थि जीविते।
सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो। —थेरगाथा १।२०

३६ जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना, पृ० २६

३७ विष्णुपुराण ३।१७।१८

३८ पद्मपुराण सृष्टि खण्ड, अध्याय १३, श्लोक १७०-४१३

३९ मत्स्यपुराण २४।४३-४९

देवी भागवत[४०] और महाभारत आदि में असुरों को आर्हत या जैनधर्म का अनुयायी बताया है।

अवतारों के निरूपण में जिस प्रकार भगवान ऋषभ को विष्णु का अवतार कहा है वैसे ही सुपार्श्व को कुपथ नामक असुर का अंशावतार कहा है तथा सुमति नामक असुर के लिए वर्णन मिलता है कि वरुण प्रासाद में उनका स्थान दैत्यों और दानवों में था।[४१]

महाभारत में विष्णु और शिव के जो सहस्र नाम हैं उन नामों की सूची में 'श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और सम्भव ये नाम विष्णु के आये हैं, जो जैनधर्म के तीर्थंकर भी थे। हमारी दृष्टि में इन तीर्थंकरों के प्रभावशाली व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण ही इनको वैदिक परम्परा ने भी विष्णु के रूप में अपनाया है। नाम साम्य के अतिरिक्त इन महापुरुषों का सम्बन्ध असुरों से जोड़ा गया है, क्योंकि वे वेद-विरोधी थे। वेद-विरोधी होने के कारण उनका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से होना चाहिए यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध है।

भगवान शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं। वे पूर्वभव में जब मेघरथ थे तब कबूतर की रक्षा की, यह घटना वसुदेवहिण्डी[४२], त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[४३] आदि में मिलती है तथा शिवि राजा के उपाख्यान के रूप में वैदिक ग्रन्थ महाभारत में प्राप्त होती है और बौद्ध वाङ्मय में 'जीमूतवाहन' के रूप में चित्रित की गई है। प्रस्तुत घटना हमें बताती है कि जैन परम्परा केवल निवृत्ति रूप अहिंसा में ही नहीं, पर, मरते हुए की रक्षा के रूप में प्रवृत्ति रूप अहिंसा में भी धर्म मानती है।

अठारहवें तीर्थंकर 'अर' का वर्णन 'अंगुत्तरनिकाय' में भी आता है। वहाँ पर तथागत बुद्ध ने अपने से पूर्व जो सात तीर्थंकर हो गए थे उनका वर्णन करते हुए कहा कि उनमें से सातवें तीर्थंकर 'अरक' थे।[४४] अरक तीर्थंकर के समय का निरूपण करते हुए कहा कि अरक तीर्थंकर के समय मनुष्य की आयु ६० हजार वर्ष होती थी। ५०० वर्ष की लड़की विवाह के योग्य समझी जाती थी। उस युग में मानवों को केवल छह

---

४० देवी भागवत ४।१३।५६-५७

४१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० २६

४२ वसुदेवहिण्डी, २१ लम्भक

४३ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ५।४

४४ भूतपुब्बं भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो मुग-पक्ख अरनेमि कुद्दालक हत्थिपाल, जोतिपाल अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन भिक्खवे, सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसुं। —अंगुत्तरनिकाय भाग ३ पृ० २५६-२५७
सं० भिक्खु जगदीश कस्सपो, पालि प्रकाशन मंडल, बिहार राज्य

प्रकार का कष्ट था—(१) शीत, (२) उष्ण, (३) भूख, (४) तृषा, (५) मूत्र, (६) मलोत्सर्ग। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार की पीड़ा और व्याधि नही थी। तथापि अरक ने मानव को नश्वरता का उपदेश देकर धर्म करने का सन्देश दिया[४५]। उनके उस उपदेश की तुलना उत्तराध्ययन के दसवे अध्ययन से की जा सकती है।

जैनागम के अनुसार भगवान 'अर' की आयु ८४००० वर्ष है और उसके पश्चात् होने वाले तीर्थंकर मल्ली की आयु ५५००० वर्ष की है।[४६] इस दृष्टि से 'अरक' का समय 'भगवान् अर' और 'भगवती मल्ली' के मध्य मे ठहरता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'अरक' तीर्थंकर से पूर्व बुद्ध के मत मे 'अरनेमि' नामक एक तीर्थंकर और भी हुए है। बुद्ध के बताये हुए अरनेमि और जैन तीर्थंकर 'अर' सभवत दोनो एक हो।

उन्नीसवे तीर्थंकर मल्ली भगवती, बीसवे मुनिसुव्रत और इक्कीसवे तीर्थंकर नमि का वर्णन वैदिक और बौद्ध वाङ्मय मे नही मिलता।

ये सभी तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल मे हुए है।

अरिष्टनेमि

भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं। आधुनिक इतिहासविद् जो साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से मुक्त है और शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न है, वे भगवान अरिष्टनेमि को भी एक ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्री कृष्ण दोनो समकालीन ही नही, एक वशोद्भव भाई-भाई हैं। दोनो अपने समय के महान् व्यक्ति है, किंतु दोनो की जीवन दिशाएँ भिन्न-भिन्न रही है। एक धर्मवीर है तो दूसरे कर्मवीर हैं। एक निवृत्तिपरायण है तो दूसरे प्रवृत्तिपरायण। एक प्रवृत्ति के द्वारा लौकिक प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हैं तो दूसरे निवृत्ति को प्रधान मानकर आध्यात्मिक विकास के सोपानो पर आरूढ होते है।

भगवान अरिष्टनेमि के युग का गभीरतापूर्वक पर्यालोचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के क्षत्रियो मे मासभक्षण की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा मे बढ गई थी। उनके विवाह के अवसर पर पशुओ का एकत्र किया जाना इस तथ्य को स्पष्ट करता है। हिंसा की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन सामान्य का ध्यान आकर्षित करने के लिए और क्षत्रियो को मास-भक्षण से विरत करने के लिए श्री अरिष्टनेमि ने जो पद्धति अपनाई, वह अद्भुत और असाधारण थी, कनका विवाह किये बिना लौट जाना मानो समग्र क्षत्रिय-जाति के पापो का प्रायश्चित्त था। उसका बिजली का सा प्रभाव दूर-दूर तक और बहुत गहरा हुआ।

---

४५ अगुत्तरनिकाय, अरकसुत्त, भाग ३, पृ० २५७ सम्पादक-प्रकाशक वही।
४६ आवश्यक निर्युक्ति गा० ३२५—२२७, ५६

एक सुप्रतिष्ठित महान् राजकुमार का दूल्हा बनकर जाना और ऐसे मौके पर विवाह किये बिना लौट जाना क्या साधारण घटना थी ? भगवान अरिष्टनेमि का वह बड़े से बड़ा त्याग था और उस त्याग ने एक बार पूरे समाज को झकझोर दिया था । समाज के हित के लिए आत्म-बलिदान का ऐसा दूसरा कोई उदाहरण मिलना कठिन है । इस आत्मोत्सर्ग ने अभक्ष्य-भक्षण करने वालों और अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरों के जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाले क्षत्रियों की आँखें खोल दीं, आत्मालोचन के लिए विवश कर दिया और उन्हें अपने कर्तव्य एवं दायित्व का स्मरण करा दिया । इस प्रकार परम्परागत अहिंसा के शिथिल एवं विस्मृत बने संस्कारों को उन्होंने पुनः स्पष्ट, जागृत व सजीव कर दिया और अहिंसा की संकीर्ण बनी परिधि को विशालता प्रदान की । पशुओं और पक्षियों को भी अहिंसा की परिधि में समेट लिया । जगत के लिए भगवान का यह उद्बोधन एक अपूर्व वरदान था और वह आज तक भी भुलाया नहीं गया है ।

वेद, पुराण और इतिहासकारों की दृष्टि से भगवान अरिष्टनेमि का क्या महत्त्व है इस प्रश्न पर 'भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण एक अनुशीलन' ग्रन्थ में भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता[४७] शीर्षक के अन्तर्गत प्रमाण-पुरस्सर विवेचन किया गया है ।

जैन ग्रन्थों की तरह वैदिक हरिवंशपुराण में श्रीकृष्ण और भगवान अरिष्टनेमि का वंश वर्णन प्राप्त है ।[४८] उसमें श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई होना लिखा है । जैन और वैदिक परम्परा में अन्तर यही है कि जैन परम्परा में भगवान अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा भाई माना है । वे दोनों सहोदर थे, जबकि वैदिक हरिवंशपुराण में चित्रक और वसुदेव को चचेरा भाई माना है । श्रीमद्भागवत में चित्रक का नाम चित्ररथ दिया है । संभव है वैदिक ग्रन्थों में समुद्रविजय का ही अपर नाम चित्रक या चित्ररथ आया हो ।

भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता

भगवान अरिष्टनेमि २२वें तीर्थंकर हैं । आधुनिक इतिहासकारों ने, जो कि साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त एवं शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, उनको ऐतिहासिक पुरुषों की पंक्ति में स्थान दिया है किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इतिहास को भी अन्यथा रूप देने वाले लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहते । मगर जब कर्मयोगी श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो अरिष्टनेमि भी उसी युग में हुए हैं और दोनों में अत्यन्त निकट पारिवारिक सम्बन्ध थे । अर्थात् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव तथा अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दोनों सहोदर भाई थे । अतः उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में संकोच नहीं होना चाहिए ।

---

४७ जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० [illegible] से ३४१ तक

४८ देखिए—भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्रमुनि, पृ० [illegible] से [illegible]

वैदिक साहित्य के आलोक मे

ऋग्वेद मे अरिष्टनेमि शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है,[४९] स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि (ऋग्वेद १।१४।८९।६)। यहाँ पर अरिष्टनेमि शब्द भगवान अरिष्टनेमि के लिए आया है। कितने ही विद्वानो की मान्यता है कि छान्दोग्योपनिषद् मे भगवान अरिष्टनेमि का नाम घोर आगिरस ऋषि आया है। घोर आगिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। उनकी दक्षिणा, तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा, सत्यवचन रूप थी।[५०] धर्मानन्द कौशाम्बी की मान्यता है कि आगिरस भगवान नेमिनाथ का ही नाम था।[५१] घोर शब्द भी जैन श्रमणो के आचार तथा तपस्या की उग्रता बताने के लिए आगम साहित्य मे अनेक स्थलो पर व्यवहृत हुआ है।[५२]

छान्दोग्योपनिषद मे देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को घोर आगिरस ऋषि उपदेश देते हुए कहते है—अरे कृष्ण! जब मानव का अन्त समय सन्निकट आये तब उसे तीन वाक्यो का स्मरण करना चाहिए—

(१) त्व अक्षतमसि—तू अविनश्वर है।

(२) त्व अच्युतमसि—तू एकरस मे रहने वाला है।

(३) त्व प्राणसशितमसि—तू प्राणियो का जीवनदाता है।[५३]

श्रीकृष्ण इस उपदेश को श्रवण कर अपिपास हो गये। उन्हे अब किसी भी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नही रही। वे अपने आपको धन्य अनुभव करने लगे। प्रस्तुत कथन की तुलना हम जैन आगमो मे आये हुए भगवान अरिष्टनेमि के भविष्य कथन से कर सकते हैं। द्वारिका का विनाश और श्रीकृष्ण की जरत्कुमार के हाथ से मृत्यु होगी—यह सुनकर श्री कृष्ण चिन्तित होते है तब उन्हे भगवान उपदेश सुनाते है जिसे सुनकर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट एव खेदरहित होते है।[५४]

---

४९ (क) ऋग्वेद १।१४।८९।६ (ख) ऋग्वेद १।२४।१८०।१०
(ग) ऋग्वेद ३।४।५३।१७ (घ) ऋग्वेद १०।१२।१७८।१

५० अतः यत् तपोदानमार्जनमहिंसासत्यवचनमितिताअस्यदक्षिणा।
छान्दोग्य उपनिषद् ३।१७।४

५१ भारतीय सस्कृति और अहिंसा, पृ० ५७

५२ घोरतवे, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबम्भचेरवासी। भगवती १।१।

५३ तद्धैतद् घोर आगिरस, कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव, सोऽन्तवेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येताक्षतमस्यच्युतमसि प्राणसशित मसीति।
—छान्दोग्योपनिषद् प्र० ३, खण्ड १८

५४ अन्तकृतदशा, वर्ग ५, अ० १

ऋग्वेद[५५], यजुर्वेद[५६] और सामवेद[५७] में भगवान अरिष्टनेमि को तार्क्ष्य अरिष्टनेमि भी लिखा है।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥[५८]

विज्ञो की धारणा है कि अरिष्टनेमि शब्द का प्रयोग जो वेदों में हुआ है वह भगवान अरिष्टनेमि के लिए है।[५९]

महाभारत में भी तार्क्ष्य शब्द का प्रयोग हुआ है जो भगवान अरिष्टनेमि का ही अपर नाम होना चाहिए।[६०] उन्होंने राजा सगर को जो मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया है वह जैनधर्म के मोक्ष-मन्तव्यों से अत्यधिक मिलता-जुलता है। उसे पढ़ते समय सहज ही ज्ञात होता है कि हम मोक्ष सम्बन्धी जैनागमिक वर्णन पढ रहे हैं। उन्होंने कहा—

सगर! मोक्ष का सुख ही वस्तुतः समीचीन सुख है। जो अहर्निश धन-धान्य आदि के उपार्जन में व्यग्र है, पुत्र और पशुओं में ही अनुरक्त है वह मूर्ख है उसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, जिसका मन अशान्त है, ऐसे मानव का उपचार कठिन है क्योंकि जो राग के बन्धन में बंधा हुआ है वह मूढ है तथा मोक्ष पाने के लिए अयोग्य है।[६१] ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे। अतः यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता, उसका सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से है। यजुर्वेद में अरिष्टनेमि का उल्लेख एक स्थान पर इस प्रकार आया है—अध्यात्मयज्ञ को प्रकट करने वाले, संसार के भव्यजीवों को सब प्रकार से उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूँ।[६२]

५५ (क) त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥
—ऋग्वेद १०।१२।१७८।१

(ख) ऋग्वेद १।१।१६
५६ यजुर्वेद २५।१९
५७ सामवेद ३।९
५८ ऋग्वेद १।१।१६।६
५९ उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ६
६० [illegible]
[illegible] ॥ —महाभारत शान्तिपर्व २८८।४
६१ महाभारत शान्तिपर्व, २८८।५-६
६२ वाजस्यनु प्रसव आबभूवेमा
[illegible]

डा० राधाकृष्णन ने लिखा है यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्ट-नेमि इन तीन तीर्थंकरो का उल्लेख पाया जाता है। स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड मे वर्णन है–अपने जन्म के पिछले भाग मे वामन ने तप किया। उस तप के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये। वे शिव श्याम वर्ण, अचेल तथा पद्मासन मे स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। यह नेमिनाथ इस घोर कलिकाल मे सब पापो का नाश करने वाले है। उनके दर्शन और स्पर्श से करोडो यज्ञो का फल प्राप्त होता है।[63]

महापुराण मे भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गयी है।[64] महाभारत के अनु-शासन पर्व, अध्याय १४ मे विष्णु सहस्रनाम मे दो स्थान पर 'शूर शौरिर्जनेश्वर' पद व्यवहृत हुआ है। जैसे—

अशोकस्तारणस्तार. शूर शौरिर्जनेश्वर।
अनुकूल शतावर्त्त पद्मी पद्मनिभेक्षण ॥५०॥
कालनेमि महावीर· शौरि शूरजनेश्वर।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेश केशव· केशिहाहरि ॥८२॥

इन श्लोको मे 'शूर शौरिर्जनेश्वर' शब्दो के स्थान पर 'शूर शौरिर्जिनेश्वर' पाठ मानकर अरिष्टनेमि अर्थ किया गया है।[65]

स नेमिराजा परियाति विद्वान्
प्रजापुष्टिं वर्धमानोऽस्मैस्वाहा ॥
——वाजसनेयि— माध्यदिन शुक्ल यजुर्वेद,
अध्याय ६, मन्त्र २५, सातवलेकर सस्करण, विक्रम स० १६८४

६३ भवस्य पश्चिमेभागे वामनेनतप कृतम्।
तेनैवतपसाकृष्ट., शिव प्रत्यक्षतागत. ॥
पद्मासन समासीनः श्याममूर्ति दिगम्बर।
नेमिनाथ. शिवोऽथैव नामचक्रेऽस्यवामन· ॥
कलिकारे महाघोरे सर्वपापप्रणाशक।
दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटियज्ञ फलप्रद. ॥
——स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड

६४ कैलाशे विमलेरम्ये वृषभोऽय जिनेश्वर।
चकार स्वावतार च सर्वज्ञ सर्वग शिव ॥
रेवताद्रौ जिनोनेमिर्युगादिविमलाचले।
ऋषीणा याश्रमदिव मुक्तिमार्गस्यकारणाम् ॥
–प्रभासपुराण ४६-५०

६५ मोक्षमार्ग प्रकाश—प० टोडरमल

११ मखलीपुत्र ।
१२ याज्ञवल्क्य ।
१३ मैत्रयभपाली ।
१४ बाहुक ।
१५ मधरायण ।
१६ सोरियायण ।
१७ विदु ।
१८ वर्षपकृष्ण ।
१९ आरियायण ।
२० उत्कलवादी ।[६९]

उनके द्वारा प्ररूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयभूत प्रमाण है ।

प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर राय चौधरी ने अपने 'वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास' मे भगवान अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) को श्री कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है ।

पी० सी० दीवान ने लिखा है जैन ग्रन्थो के अनुसार नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के बीच मे ८४००० वर्ष का अन्तर है, हिन्दू पुराणो मे इस बात का निर्देश नही है कि वसुदेव के समुद्रविजय बडे भाई थे और उनके अरिष्टनेमि नामक कोई पुत्र था । प्रथम कारण के सम्बन्ध मे दीवान का कहना है कि हमे यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह सम्भव नही कि जैन ग्रन्थकारो के द्वारा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के बीच मे सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने मे उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें किन्तु केवल इसी कारण से जैनग्रन्थो मे वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त को जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओझल कर देना युक्तियुक्त नही है ।

दूसरे कारण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि भागवत सम्प्रदाय के ग्रथकारो ने अपने परम्परागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है जितना श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था । जैनग्रन्थो मे ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य हैं जो भागवत साहित्य मे उपलब्ध नही है ।[७०]

---

६९ णारद वज्जिय-पुत्ते आसिते अगरिसि पुप्फसाले य ।
वल्कलकुम्भा केवलि कासव तह तेतलिसुते य ॥
मखली जण्णभयालि बाहुय महु सोरियाण विदुविपू ।
वरिसकण्हे आरिय उक्कलवारीय तरुणे य ॥
—इसिभासियाइ, पढमा सगहिणी, गाथा—२-३ ।

७० जैन साहित्य का इतिहास
—पूर्व पीठिका—ले० प० कैलाशचन्द्र जी पृ० १७०-१७१ ।

कर्नल टाड ने अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में लिखा है—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं, उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डीनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।"[71]

प्रसिद्ध कोषकार डाक्टर नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर फ्यूरर, प्रोफेसर बारनेट, मिस्टर करवा, डाक्टर हरिदत्त, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृति अन्य अनेक विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि भगवान अरिष्टनेमि एक प्रभावशाली पुरुष हुए थे। उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में कोई बाधा नहीं है।

साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट नाम का निर्देश होने पर भी टीकाकारों ने अर्थ में परिवर्तन किया है। अतः आज आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से उन पर चिन्तन करने की। जब हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट ज्ञात होगा कि भगवान अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

भगवान पार्श्व : एक ऐतिहासिक पुरुष

भगवान पार्श्व के जीवनवृत्त की ज्योतिर्मय रेखाएँ श्वेताम्बर और दिगम्बरों के ग्रन्थों में बड़ी श्रद्धा और विस्तार के साथ उट्टंकित की गई हैं। वे भगवान महावीर से २५० वर्ष पूर्व वाराणसी में जन्मे थे। तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे, फिर संयम लेकर उग्र तपश्चरण कर कर्मों को नष्ट किया। केवलज्ञान प्राप्त कर भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर जन-जन के कल्याण हेतु उपदेश दिया। अन्त में सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर सम्मेद शिखर पर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान पार्श्व के जीवन-प्रसंगों में, जैसे कि सभी महापुरुषों के जीवन-प्रसंगों में होता है और चमत्कारिक अद्भुत प्रसंग हैं, जिनको लेकर कुछ लोगों ने उन्हें पौराणिक महापुरुष माना। किन्तु वर्तमान शताब्दी के अनेक इतिहासज्ञों ने उस पर गम्भीर पर्यालोचन-अनुचिन्तन किया और सभी इस निर्णय पर पहुंचे कि भगवान पार्श्व एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं। सर्वप्रथम डाक्टर हर्मन जेकोबी ने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रमाणों के प्रकाश में भगवान पार्श्व को एक ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध किया।[72] उसके पश्चात् कोलब्रुक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड, टामस, डा० बेलवल्कर, दास गुप्ता, डा० राधाकृष्णन्,[73] शार्पेन्टियर, गेरीनोट, मजूमदार, ईलियट और पुसिन प्रभृति अनेक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों ने भी यह सिद्ध किया कि महावीर से पूर्व एक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय था और उस सम्प्रदाय के प्रधान भगवान पार्श्वनाथ थे।

71 अन्नल्स ऑफ दी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पत्रिका जिल्द २३, पृ० १२२
72 The Sacred Books of the East, Vol. XLV Introduction page 21
That Parsva was a historical person is now admitted by all as very probable.
73 Indian Philosophy, Vol. I, Page 287

डाक्टर वासम के अभिमतानुसार भगवान महावीर को बौद्ध पिटको मे बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप मे अकित किया गया है, एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता असदिग्ध है। भगवान पार्श्व चौवीस तीर्थंकरो मे से तेईसवें तीर्थंकर के रूप मे प्रख्यात थे।[७४]

डाक्टर चार्ल्स शार्पेन्टियर ने लिखा है "हमे इन दो बातो का भी स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्राय निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप मे विद्यमान रह चुके हैं एव परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तो की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होगी।"[७५]

विज्ञो ने जिन ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व महावीर से पूर्व सिद्ध किया है। वे तथ्य सक्षेप मे इस प्रकार है—

(१) जैनागमो[७६] मे और बौद्ध त्रिपिटको[७७] मे अनेक स्थलो पर मखली-

---

74 The Wonder that was India (A L Basham, B A, Ph D, F R A S), Reprinted 1956, pp 287-288

"As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt . Parswa was remembered as twenty-third of the twentyfour great teachers or Tirthankaras 'ford-makers' of the Jaina faith"

75 The Uttaradhyana Sutra Introduction, Page 21 "We ought also to remember both—the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira"

७६ (क) भगवती १५-१
(ख) उपासकदशाग, अध्याय ७
(ग) आवश्यकसूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति—पूर्वभाग
(घ) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृष्ठ २८३-२९२
(ड) कल्पसूत्र की टीकाएँ
(च) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र
(छ) महावीर चरिय, नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र आदि

७७ (क) मज्झिमनिकाय १।१९८।२५०,२१५
(ख) सयुक्तनिकाय १।६८, ४।३९८
(ग) दीघनिकाय १।५२
(घ) दिव्यावदान, पृष्ठ १४३

(४) बौद्ध साहित्य मे महावीर और उनके शिष्यो को चातुर्यामयुक्त लिखा है। दीघनिकाय मे एक प्रसग है। अजातशत्रु ने तथागत बुद्ध के सामने श्रमण भगवान महावीर की भेट का वर्णन करते हुए कहा है—

'भन्ते। मैं निगण्ठनात्तपुत्र के पास भी गया और उनसे भी साद्दष्टिक श्रामण्य-फल के बारे मे पूछा। उन्होंने मुझे चातुर्याम सवरवाद वतलाया। उन्होने कहा—निगण्ठ चार सवरो से सवृत रहता है—(१) वह जल के व्यवहार का वर्जन करता है, जिससे जल के जीव न मरे (२) वह सभी पापो का वर्जन करता है (३) सभी पापो के वर्जन से धुत पाप होता है और (४) सभी पापो के वर्जन मे लाभ रहता है। इसलिए वह निर्ग्रंथ गतात्मा, यत्तात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।[८७]

सयुक्तनिकाय मे इसी तरह निक नामक एक व्यक्ति ज्ञातपुत्र महावीर को चातुर्याम युक्त कहता है। जैन साहित्य से यह पूर्ण सिद्ध है कि भगवान महावीर की परम्परा पञ्चमहाव्रतात्मक रही है।[८८] तथापि बौद्ध साहित्य मे चार याम युक्त कहा गया है।[८९] यह इस बात की ओर सकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित व सम्बद्ध रहे है और इसी कारण महावीर के धर्म को भी उन्होने उसी रूप मे देखा है। यह पूर्ण सत्य है कि महावीर के पूर्व निर्ग्रंथ सम्प्रदायो मे चार यामो का ही महात्म्य था और इसी नाम से वह अन्य सम्प्रदाय मे विश्रुत रहा होगा। सम्भव है बुद्ध और उनकी परम्परा के विज्ञो को श्रमण भगवान महावीर ने निर्ग्रंथ सम्प्रदाय मे जो आतरिक परिवर्तन किया, उसका पता न चला हो।

(५) जैन आगम साहित्य मे पूर्व साहित्य का उल्लेख है। पूर्व सख्या की दृष्टि से चौदह थे। आज वे सभी लुप्त हो चुके है। डाक्टर हर्मन जैकोबी की कल्पना है कि श्रुतागो के पूर्व अन्य धर्मग्रन्थो का अस्तित्व एक पूर्व सम्प्रदाय के अस्तित्व का सूचक है।[९०]

(६) डाक्टर हर्मन जैकोबी ने मज्झिमनिकाय के एक सवाद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—'सच्चक का पिता निर्ग्रंथ मतानुयायी था। किन्तु सच्चक निर्ग्रंथ मत को नही मानता था। अत उसने गर्वोक्ति की कि मैंने नातपुत्र महावीर को

---

८७ दीघनिकाय सामञ्ञफल १-२

८८ उत्तराध्ययन २३।२३

८९ बौद्धसाहित्य मे जो चार याम बताये गये हैं वे यथार्थ नही हैं। तथागत की व्रत कल्पना जैन-परम्परा मे नही मिलती है। यह कहा जा सकता है कि शीत जल आदि का निषेध जैन-परम्परा के विरुद्ध नही है।

90 The name (पूर्व) itself testifies to the fact that the Purvas were superseded by a new canon, for Purva means former, earlier
Sacred Books of the East, Vol XXII,
Introduction, P XLIV

(६) अगुत्तर निकाय मे वर्णन है कि वप्प नामक एक निर्ग्रन्थ श्रावक था।[६४] उसी सुत्त की अट्ठकथा मे यह भी निर्देश है कि वप्प बुद्ध का चूल पिता (पितृव्य) था।[६५] यद्यपि जैन परम्परा मे इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही है। उल्लेखनीय बात तो यह है, बुद्ध के पितृव्य का निर्ग्रन्थ धर्म मे होना भगवान पार्श्व और उनके निर्ग्रन्थ धर्म की व्यापकता का स्पष्ट परिचायक है। बुद्ध के विचारो मे यत्किंचित् प्रभाव आने का यह भी एक निमित्त हो सकता है।

तथागत बुद्ध की साधना पर भगवान पार्श्व का प्रभाव

भगवान पार्श्व की परम्परा से बुद्ध का सम्बन्ध अवश्य रहा है। वे अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहते हैं—सारिपुत्र! बोधि प्राप्ति से पूर्व मैं दाढी-मूछो का लुंचन करता था। मैं खडा रहकर तपस्या करता था। उकडू बैठकर तपस्या करता था। मैं नगा रहता था। लौकिक आचारो का पालन नही करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था।

बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमन्त्रण को भी स्वीकार नही करता था।[६६] यह समस्त आचार जैन श्रमणो का है। इस आचार मे कुछ स्थविरकल्पिक है, और कुछ जिनकल्पिक है। दोनो ही प्रकार के आचारो का उनके जीवन मे सम्मिश्रण है। सम्भव है प्रारम्भ मे गौतम बुद्ध पार्श्व की परम्परा मे दीक्षित हुए हो।

आठवी शताब्दी के प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य देवसेन ने लिखा है कि जैन श्रमण पिहिताश्रव ने सरयू के तट पर पलास नामक ग्राम मे श्री पार्श्वनाथ के सघ मे उन्हें दीक्षा दी, और उनका नाम बुद्धकीर्ति रखा।[६७]

प० सुखलालजी[६८] ने तथा बौद्ध पडित धर्मानन्द कोसाम्बी[६९] ने यह अभिप्राय

---

६४ अगुत्तरनिकाय—पालि, चतुस्कनिपात, महावग्गो, वप्प सुत्त ४-२०-५ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १८८ से १९२

६५ अगुत्तरनिकाय—अट्ठकथा, खण्ड २, पृष्ठ ५५९
वप्पो त्ति दसबलस्सचुल्लपिता।

६६ (क) मज्झिमनिकाय—महासिहनाद सुत्त १।१।२
(ख) भगवान बुद्ध, धर्मानन्द कोसाम्बी, पृष्ठ ६८-६९

६७ सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो वड्ढकित्तिमुणी॥
दर्शनसार, देवसेनाचार्य प० नाथूलाल प्रेमी द्वारा सम्पादित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२०, श्लोक ६

६८ चार तीर्थंकर

६९ बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारो यामो को पूर्णतया स्वीकार किया था' 'बुद्ध के मत मे चार यामो का पालन करना ही सच्ची तपस्या है।' 'वहाँ के श्रमण सम्प्रदाय मे उन्हे शायद निर्ग्रन्थो का चातुर्याम सवर ही विशेष पसन्द आया।

वैदिक संस्कृति में श्रमण संस्कृति के स्वर

वैदिक सस्कृति का मूल वेद है। वेदो मे आध्यात्मिक चर्चाएं नही हैं। उसमें अनेक देवो की भव्यस्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की गई है। द्यु निमान होना देवत्व का मुख्य लक्षण है। प्रकृति के जो रमणीय दृश्य और विस्मयजनक व चमत्कारपूर्ण जो घटनाएं थी उनको सामान्य रूप से देवकृत कहा गया है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक–देव के ये तीन प्रकार माने गये है। इन तीनो दृष्टियो से देवत्व का प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। स्थान विशेष से तीन देवता प्रमुख है। पृथ्वीस्थानदेव—इसमे अग्नि को मुख्य माना गया है। अन्तरिक्षस्थान देव—इसमे इन्द्र और वायु को मुख्य स्थान दिया गया है। द्युस्थानदेव—जिनमे सूर्य और सविता मुख्य है। इन तीनो देवो की स्तुति ही विभिन्न रूपो मे विभिन्न स्थानो पर की गई है। इन देवो के अतिरिक्त अन्य देवो की भी स्तुतियाँ की गई है। ऋग्वेद की तरह सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद मे भी यही है।

उसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं। उनमे भी यज्ञ के विधि-विधान का ही विस्तार से वर्णन है—यज्ञो के सम्बन्ध मे कुछ विरोध भी प्रतीत होता है। उसका परिहार भी ब्राह्मण ग्रन्थो मे किया गया है। उसके पश्चात् सहिता साहित्य आता है। सहिता और ब्राह्मण ग्रन्थो मे मुख्य भेद यही है कि सहिता स्तुतिप्रधान है और ब्राह्मण विधि प्रधान है।

उसके पश्चात् उपनिषद् साहित्य आता है। उसमे यज्ञो का विरोध है। अध्यात्म-विद्या की चर्चा है—हम कौन है, कहाँ से आये है, कहाँ जायेंगे—आदि प्रश्नो पर भी विचार किया गया है। अध्यात्मविद्या श्रमण सस्कृति की देन है।

आचार्य शकर ने दस उपनिषदो पर भाष्य लिखा है। उनके नाम इस प्रकार है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक।

डॉक्टर बेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिषदो मे मुख्य ये हैं—छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय. मुण्डक, कौषीतकी, केन और प्रश्न।[२]

आर्थर ए० मैकडॉनल के अभिमतानुसार प्राचीनतम वर्ग वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी उपनिषद् का रचनाकाल ईसा पूर्व ६०० है।[3]

एच० सी० राय चौधरी का मत है कि विदेह के महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पात्र पाँच हैं। उनका काल-मान ईसा पूर्व सातवी शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रथ पृष्ठ ६७ मे लिखा है—

---

२ हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ८७-९०।

३ History of the Sanskrit Literature, p 226

शब्दार्थ की दृष्टि से चिन्तन करते है तो 'नाथ' शब्द का अर्थ स्वामी या प्रभु होता है। अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्य वस्तु के सरक्षण को 'क्षेम' कहा जाता है। जो योग और क्षेम को करने वाला होता है वह 'नाथ' कहलाता है।[२२] अनाथी मुनि ने श्रेणिक से कहा—गृहस्थ जीवन मे मेरा कोई नाथ नही था। मैं मुनि बना और नाथ हो गया। अपना, दूसरो का और सब जीवो का।[२३]

दीघनिकाय मे दस नाथकरण धर्मों का निरूपण है, उसमे भी क्षमा, दया, सरलता आदि सद्गुणो का उल्लेख है।[२४] जो इन सद्गुणो को धारण करता है वह नाथ है।

तीर्थंकरो का जीवन सद्गुणो का अक्षय कोष है। अत उनके नाम के साथ नाथ उपपद लगाना उचित ही है।

भगवती सूत्र मे भगवान महावीर के लिए **'लोगनाहेण'** यह शब्द प्रयुक्त हुआ है और आवश्यक सूत्र मे अरिहतो के गुणो का उत्कीर्तन करते हुए **'लोगनाहाणं'** विशेषण आया है।

सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य यतिवृषभ ने अपने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ मे तीर्थंकरो के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—

"भरणी रिक्खम्मि सतिणाहो य"[२५]
'विमलस्स तीसलक्खा'
अणंतणाहस्स पंचदसलक्खा"[२६]

आचार्य यतिवृषभ[२७] आचार्य जिनसेन[२८] आदि ने तीर्थंकरो के नाम के साथ ईश्वर और स्वामी पदो का भी प्रयोग किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यतिवृषभ का समय चतुर्थ शताब्दी के आस-पास माना जाता है और जिनसेन का ९वी शताब्दी। तो चतुर्थ शताब्दी मे तीर्थंकरो के नाम के साथ 'नाथ' शब्द व्यवहृत होने लगा था।

तीर्थंकरो के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनैः-शनै इतनी अत्यधिक बढी कि शैवमतानुयायी योगी अपने नाम के साथ 'मत्स्येन्द्रनाथ', "गोरखनाथ"

---

२२ **नाथ. योगक्षेम विधाता।**

—उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति पत्र ४७३

२३ **ततो ह नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।**
सव्वेसि चेव भूयाणं तसाण थावराण य॥

—उत्तरा० २०।३५

२४ दीघनिकाय ३।११, पृ० ३१२-३१३।

२५ तिलोयपण्णत्ती ४।५४१

२६ वही, ४।५९९

२७ **रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं।** —तिलोय० ४।१२८३

२८ महापुराण १४।१६१, पृ० ३१९

प्रस्तुत ग्रन्थ

चौबीस तीर्थंकरो की जीवनगाथा पर अतीत काल से ही लिखा जाता रहा है। समवायाग मे चौबीस तीर्थंकरो के नाम, उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ सम्प्राप्त होते हैं और कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, मलयगिरिवृत्ति, तथा चउप्पन महापुरिसचरिय, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, महापुराण, उत्तरपुराण प्रभृति अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थो मे २४ तीर्थंकरो के जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसग उट्टङ्कित है। प्रान्तीय भाषाओ मे भी और स्वतन्त्र रूप से भी एक-एक तीर्थंकर के जीवन पर अनेको ग्रन्थ है। आधुनिक युग मे भी २४ तीर्थंकरो पर शोधप्रधान दृष्टि से कितने ही लेखको ने लिखने का प्रयास किया है। राजेन्द्र मुनि जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे बहुत ही सक्षेप मे और प्राञ्जल भाषा मे २४ तीर्थंकरो पर लिखा है। लेखक का मूल लक्ष्य रहा है कि आधुनिक समय मे मानव के पास समय की कमी है। वह अत्यन्त विस्तार के साथ लिखे गये ग्रन्थो को पढ नही पाता। वह सक्षेप मे और स्वल्प समय मे ही उनके जीवन की प्रमुख घटनाओ, उदात्त चरित्र और प्रेरणाप्रद उपदेशो को जानना चाहता है। उन्ही पाठको की भावनाओ को सलक्ष्य मे रखकर सक्षेप मे २४ तीर्थंकरो का परिचय लिखा गया है। यह परिचय सक्षेप मे होने पर भी दिलचस्प है। पाठक पढते समय उपन्यास की सरसता, इतिहास की तथ्यता व निबन्ध की सुललितता का एक साथ अनुभव करेगा। उसे अपने महिमामय महापुरुषो के पवित्र चरित्रो को जानकर जीवन-निर्माण की सहज प्रेरणा मिलेगी—ऐसी आशा है।

मैं चाहता हूँ लेखक अपने अध्ययन को विस्तृत करे। वह गहराई मे जाकर ऐसे सत्य तथ्यो को उजागर करे जो इतिहास को नया मोड दे सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक की पूर्व कृतियो की तरह जन-जन के अन्तर्मानस मे अपना गौरवमय स्थान बनायेगा ऐसी मगलकामना है।

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रमणिका

किया और अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन प्रभृति २० निमित्तो की आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध किया । अन्त मे मासिक सलेखनापूर्वक पादपोपगमन सथारा कर आयुष्य पूर्ण किया, और वहाँ से १२वे भव मे सर्वार्थसिद्धि विमान मे उत्पन्न हुए और १३वें भव मे विनीता नगरी मे ऋषभदेव के रूप मे जन्म ग्रहण किया ।

मानव संस्कृति का उन्नयन

भगवान ऋषभदेव का जन्म मानव इतिहास के जिस काल विशेष मे हुआ, उस परिप्रेक्ष्य मे सोचा जाय तो हम पाएँगे कि भगवान ने मानव-सस्कृति एव सभ्यता का अथवा यू कहा जाय कि एक प्रकार से समग्र मानवता का ही शिलान्यास किया था । इस महती भूमिका के कारण उनके चरित्र का जो महान स्वरूप गठित होता है, वह साधारण मापदण्डो के माध्यम से मूल्याकन से परे की वस्तु है ।

मानवीय सभ्यता का अति प्रारम्भिक एव अनिश्चित चरण चल रहा था । अन्य पशुओ एव मनुष्य मे तब कोई उल्लेखनीय अन्तर न था । पशुवत् आहार-विहारादि की सामान्य प्रक्रिया मे व्यस्त मनुष्य सर्वथा प्रकृति पर ही निर्भर था । वह अपने विवेक अथवा कौशल के सहारे प्राकृतिक वैभव से अपने पक्ष मे अधिक सुविधाएँ जुटा लेने की क्षमता नही रखता था । तरु तले बसेरा करने वाला वह प्राणी वल्कल वस्त्रो से शीतातप के आघातो से अपनी रक्षा करता, वन्य कद-मूलफलादि सेवन कर क्षुधा-तृप्ति करता और सरितादि के निर्मल-जल से तृषा को शान्त कर लिया करता था । सीमित अभिलाषाओ का संसार ही मनुष्य का प्राप्य था । नर और नारी का युगल एक युगल सन्तति को जन्म देता, सन्तोप का जीवन व्यतीत करता और जीवन-लीला को समाप्त कर लिया करता था । शील और सन्तोप की साकार परिभाषा उस काल के मानव मे दृष्टिगत हो सकती थी । मोह, लोभ, ममता, सग्रहादि की प्रवृत्तियाँ तव तक मनुष्य को स्पर्श भी न कर पायी थी ।

जीवन की परिस्थितियाँ वस्तुत स्वर्गोपम थी, किन्तु समय-चक्र सदा गतिशील रहता है । मानव-जीवन परिवर्तित होने लगा । उधर तो निरन्तर उपभोग से प्राकृतिक सम्पदा क्रमश कम होने लगी और इधर उपभोक्ताओ की सख्या मे भी वृद्धि होने लगी। परिणामत अभाव की स्थिति आने लगी । मनुष्यो मे लोभ और फलत सग्रह की प्रवृत्ति ने जन्म लिया । छीना-झपटी और पारस्परिक कलह होने लगा । कदाचित मानव-विकारो का यह प्रथम चरण ही था । इसी काल मे भगवान ऋषभदेव का प्रादुर्भाव हुआ था और सामयिक परिस्थितियो मे मानव-कल्याण की दिशा मे जो महान योगदान उनकी विलक्षण प्रतिमा का रहा, वह मानव इतिहास का एक अविस्मरणीय प्रसग वन गया । प्रजा की इस दशा ने राजा ऋषभदेव के लिए चिन्तन का द्वार खोल दिया । इस अशान्ति और क्लेश के मूल कारण के रूप मे उन्होने अभाव की परिस्थिति को पाया और अपनी प्रजा को उद्यम की ओर उन्मुख कर दिया । भगवान ने कृषि द्वारा धरती मे अन्न उपजाना सिखाया । धरती माता ने अन्न का दान दिया

जन्म-वंश

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे का अन्तिम चरण चल रहा था। तभी चैत्र कृष्णा अष्टमी को माता मरुदेवा ने भगवान ऋषभदेव को जन्म दिया। कुलकर वंशीय नाभिराजा आपके पिता थे। पुत्र के गर्भ मे आने पर माता ने १४ दिव्य स्वप्नो का दर्शन किया था जिनमे से प्रथम स्वप्न वृषभ सम्बन्धी था। नवजात शिशु के वक्ष पर भी वृषभ का ही चिह्न था अतः पुत्र को ऋषभकुमार नाम से ही पुकारा जाने लगा।

ऋषभकुमार का हृदय परदुखकातर एव परम दयालु था। इस सम्बन्ध मे उनके जीवन के अनेक प्रसग स्मरण किये जाते है। एक प्रसग तो ऐसा भी है जिसने आगे चलकर उनके जीवन मे बहुत बडी भूमिका निभायी। बालक-बालिकाओ का एक युगल क्रीडामग्न था। यह युग्म ऐसा था जो प्रचलित प्रथानुसार भावी दाम्पत्य जीवन मे एक-दूसरे का साथी होने वाला था। ताल वृक्ष के तले खेलते एक युगल पर दुर्भाग्यवश ताल का पका हुआ फल गिर पडा और बालक की मृत्यु हो गयी। बिलखती बालिका अकेली छूट गयी। भगवान का हृदय पसीज गया। बालमृत्यु की यह असाधारण और अभूतपूर्व घटना थी, जिससे सब विचलित हो गये थे। वियुक्त बालिका को सब लोग ऋषभदेव के पास लाये और भगवान ने इस बालिका को यथा-समय अपनी जीवन सगिनी बनाने का वचन दिया।

उचित वय प्राप्ति पर ऋषभकुमार ने उस कन्या 'सुनन्दा' के साथ विवाह कर अपने वचन को पूरा किया और विवाह-परम्परा को एक नया मोड दिया। साथ ही अपने युगल की कन्या सुमगला से भी विवाह किया और प्रचलित परिपाटी का निर्वाह किया। रानी सुनन्दा ने परम तेजस्वी पुत्र बाहुबली और पुत्री सुन्दरी को तथा रानी सुमगला ने भरत सहित ६६ पुत्रो एव पुत्री ब्राह्मी को जन्म दिया। यथा-समय पिता नाभिराज ऋषभकुमार को समस्त राजसत्ता सौंप कर निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे।

संसार-त्याग

सासारिक सुख-वैभव मे जीवन-यापन करते हुए भी भगवान ऋषभदेव सर्वथा वीतरागी बने रहे। योग्य वय हो जाने पर उन्होंने अयोध्या के सिंहासन पर भरत को आसीन किया, बाहुबली को तक्षशिला का नरेश बनाया तथा शेष युवराजो की योग्यता-नुसार अन्य राज्यो का स्वामी बनाकर वे ससार त्याग कर साधना-लीन होने को तत्पर हुए। उनके इस त्याग का व्यापक प्रभाव हुआ। यह महान् घटना चैत्र कृष्णा अष्टमी की है, जब उत्तराषाढ नक्षत्र का समय था, अनेक नरेशो सहित ४००० पुरुषो ने भगवान के साथ ही दीक्षा ग्रहण करली। अपने लक्ष्य और मार्ग से परिचित भगवान ऋषभदेव तो साधना-पथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहे किन्तु इस ज्ञान से रहित अन्य

मनाया जाये। अन्तत यह सोचकर कि चक्र प्राप्ति अर्थ का और पुत्र प्राप्ति काम का फल है, किन्तु केवलज्ञान धर्म का फल है और यही सर्वोत्तम है—इस उत्सव को ही उन्होंने प्राथमिकता दी।

देशना एवं तीर्थ-स्थापना

माता मरुदेवा ने भरत से भगवान ऋषभनाथ के केवलज्ञान प्राप्ति का समाचार सुना तो उसके वृद्ध, शिथिल शरीर मे भी स्फूर्ति व्याप्त हो गयी। उसका मन अपने पुत्र को देख लेने को व्यग्र था। वह भी भरत के साथ भगवान का कैवल्य महोत्सव मनाने गयी। माता ने देखा अशोक वृक्ष तले सिहासनारूढ पुत्र ऋषभदेव के श्रीचरणो मे असख्य देवी-देवता नमन कर रहे है, अनेकधा पूजा-अर्चना कर रहे हैं और प्रभु देशना दे रहे है। भाव-विभोर माता का वात्सल्य भाव भक्ति मे बदल गया। विरक्ता मरुदेवा उज्ज्वल शुक्लध्यान मे लीन होकर सिद्ध-बुद्ध हो गयी। कर्मो का आवरण छिन्न हो गया और वह मुक्त हो गयी। उसे दुर्लभ निर्वाणपद की सहज उपलब्धि हो गयी। स्वय भगवान ने इस आशय की घोषणा की कि इस युग की सर्वप्रथम मुक्ति-गामिनी मरुदेवा सिद्ध भगवती हो गयी है।

मरीचि प्रथम परिव्राजक

सम्राट भरत के पुत्र मरीचि ने भगवान की देशना से उद्‌बुद्ध होकर भगवान के श्री चरणो मे ही दीक्षा ग्रहण करली और दीक्षित होकर साधना प्रारम्भ की। साधना का मार्ग जितना कठिन है और इस मार्ग मे आने वाली परीषह-बाधाएँ जितनी कठोर होती है उतनी ही कोमल कुमार मरीचि की काया थी। फलत. उन भीषण व्रतो और प्रचण्ड उपसर्ग-परीषहो को वह झेल नही पाया तथा कठोर साधना की पगडडी से च्युत हो गया। उसके समक्ष समस्या आ खडी हुई—न तो वह इस सयम का निर्वाह कर पा रहा था और न ही पुन गृहस्थ-मार्ग पर आरूढ हो पा रहा था। वह समस्या का निदान खोजने लगा और अपनी स्थिति के अनुरूप उसने एक नवीन वीतराग-स्थिति की मर्यादाओ की कल्पना की। श्रमण-धर्म से उसने सभाव्य बिन्दुओ का चयन किया और उनका निर्वाह करते हुए वैराग्य के एक नवीन वेश मे विचरण करने का निश्चय किया। उसका यह नवीन रूप—'परिव्राजक वेश' के रूप मे प्रकट हुआ। यही से परिव्राजक धर्म की स्थापना हुई, जिसका उन्नायक मरीचि था और वही प्रथम परिव्राजक था। परिव्राजक मरीचि बाद मे भगवान के साथ विचरण करता रहा। मरीचि ने अनेक जिज्ञासुओ को दशविधि श्रमण-धर्म की शिक्षा दी और भगवान का शिष्यत्व स्वीकार करने को प्रेरित किया। सम्राट भरत के एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा था कि इस सभा मे एक व्यक्ति ऐसा भी है जो मेरे बाद चलने वाली २४ तीर्थंकरो की परम्परा मे अतिम तीर्थंकर बनेगा और वह है—मरीचि। अपने पुत्र के इस भावी उत्कर्ष से अवगत होकर सम्राट भरत गद्‌गद हो गये। भावी तीर्थंकर मरीचि का उन्होने अभिनन्दन किया। कुमार कपिल मरीचि का शिष्य था।

यथा योग्यतानुसार छोटे-मोटे राज्यो का राज्यत्व प्रदान किया था। इनमे से भी वाहु-बली नामक नरेश वडा प्रतापी और शक्तिशाली था।

आयुधशाला मे चक्ररत्न की उत्पत्ति पर महाराज भरत को चक्रवर्ती सम्राट बनने की प्रवल प्रेरणा मिली और उन्होने तदर्थ अभियान प्रारम्भ किया था। जव भरत ने अपने पराक्रम और शक्ति के बल पर देश-देश के नृपतियो से अपनी अधीनता स्वीकार करा ली तो अव एकछत्र सम्राट वनने की वलवती भावना उसे अपने इन ६८ बन्धुओ पर भी विजय-स्थापना के लिए उत्साहित करने लगी।

निदान राजा भरत ने इन बन्धु नरेशो को सन्देश भेजा कि या तो वे मेरी अधीनता स्वीकार करले या युद्ध के लिए तत्पर हो जाएँ। इस सन्देश मे जो आतक लिपटा हुआ था, उसने इन नरेशो को विचलित कर दिया। पिता के द्वारा ही इन्हे ये राज्याश प्रदान किये गये थे और भरत के अपार वैभव, सत्ता और शक्ति के समक्ष ये नगण्य से थे। भरत को कोई अभाव नही, फिर भी सत्ता के मद और इच्छाओ के शासन से ग्रस्त भरत अपने भाइयो को भी त्रास-मुक्त नही रखना चाहता था। वस्तुत भरत इन पर विजय प्राप्त किये विना चक्रवर्ती बनता भी कैसे ? अत उसके लिए यह अनिवार्य भी था, किन्तु ये क्षत्रिय नरेश कायरतापूर्वक अपने राज्य भरत की सेवा मे अर्पण भी कैसे कर दे ? और यदि ऐसा न करे तो अपने ज्येष्ठ भ्राता के विरुद्ध युद्ध भी कैसे करें ? इस समस्या पर सभी बन्धुओ ने मिलकर गभीरता से विचार किया, किन्तु समस्या का कोई हल उनसे निकल नही सका। उनके मन मे आतक भी जमा बैठा था और तीव्र अन्तर्द्वन्द्व भी। ऐसी अत्यन्त कोमल परिस्थिति मे उन्होने भगवान से मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का निश्चय किया और यह निश्चय किया कि भगवान जो निर्णय और सुझाव देगे वही हमारे लिए आदेश होगा। हम सभी भगवान के निर्देश का अक्षरश पालन करेंगे।

यह निश्चय कर वे सभी अपने पिता तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव स्वामी की सेवा मे उपस्थित हुए। भगवान के समक्ष अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए निर्देशार्थ वे सभी प्रार्थना करने लगे। भगवान ने उन्हे अत्यन्त स्नेह के [illegible] ोध दिया। उ[illegible]
अपनी देशना मे कहा कि सृष्टि का एक शाश्वत नियम [illegible] न्याय'। [illegible]
मछली छोटी मछली को अपना आहार बना लेती है और [illegible] वडी म[illegible]
के लिए आहार बन जाती है। इस प्रकार सर्वाधिक शवि[illegible] तत्व
शिष्ट रहता है। शक्तिहीनो का उसी मे समाहार हो जात[illegible] स[illegible]
प्रवृत्ति का अपवाद भरत [illegible]। उसने चक्रवर्ती सम्रा[illegible] f[illegible]
किया है, तो वह तुम [illegible] य प्राप्त करना ही
उसके इस मार्ग मे बाध[illegible] भी स्वाभाविक
रहकर फिर मधुर गिरा [illegible] उसका सत्ता
प्रतिबधित कर पाने का स[illegible] है, f[illegible]

यथा योग्यतानुसार छोटे-मोटे राज्यो का राज्यत्व प्रदान किया था । इनमे से भी वाहु-वली नामक नरेश बडा प्रतापी और शक्तिशाली था ।

आयुधशाला मे चक्ररत्न की उत्पत्ति पर महाराज भरत को चक्रवर्ती सम्राट बनने की प्रवल प्रेरणा मिली और उन्होने तदर्थ अभियान प्रारम्भ किया था । जव भरत ने अपने पराक्रम और शक्ति के बल पर देश-देश के नृपतियो से अपनी अधीनता स्वीकार कराली तो अव एकछत्र सम्राट बनने की बलवती भावना उसे अपने इन ६८ बन्धुओ पर भी विजय-स्थापना के लिए उत्साहित करने लगी ।

निदान राजा भरत ने इन बन्धु नरेशो को सन्देश भेजा कि या तो वे मेरी अधीनता स्वीकार करले या युद्ध के लिए तत्पर हो जाएँ । इस सन्देश मे जो आतक लिपटा हुआ था, उसने इन नरेशो को विचलित कर दिया । पिता के द्वारा ही इन्हे ये राज्याश प्रदान किये गये थे और भरत के अपार वैभव, सत्ता और शक्ति के समक्ष ये नगण्य से थे । भरत को कोई अभाव नही, फिर भी सत्ता के मद और इच्छाओ के शासन से ग्रस्त भरत अपने भाइयो को भी त्रास-मुक्त नही रखना चाहता था । वस्तुत भरत इन पर विजय प्राप्त किये बिना चक्रवर्ती बनता भी कैसे ? अत उसके लिए यह अनिवार्य भी था, किन्तु ये क्षत्रिय नरेश कायरतापूर्वक अपने राज्य भरत की सेवा मे अर्पण भी कैसे कर दे ? और यदि ऐसा न करे तो अपने ज्येष्ठ भ्राता के विरुद्ध युद्ध भी कैसे करें ? इस समस्या पर सभी बन्धुओ ने मिलकर गभीरता से विचार किया, किन्तु समस्या का कोई हल उनसे निकल नही सका । उनके मन मे आतक भी जमा बैठा था और तीव्र अन्तर्द्वन्द्व भी । ऐसी अत्यन्त कोमल परिस्थिति मे उन्होने भगवान से मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का निश्चय किया और यह निश्चय किया कि भगवान जो निर्णय और सुझाव देंगे वही हमारे लिए आदेश होगा । हम सभी भगवान के निर्देश का अक्षरश पालन करेंगे ।

यह निश्चय कर वे सभी अपने पिता तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव स्वामी की सेवा मे उपस्थित हुए । भगवान के समक्ष अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए निर्देशार्थ वे सभी प्रार्थना करने लगे । भगवान ने उन्हे अत्यन्त स्नेह के साथ प्रवोध दिया । उन्होने अपनी देशना मे कहा कि सृष्टि का एक शाश्वत नियम है—'मत्स्य न्याय' । बडी मछली छोटी मछली को अपना आहार बना लेती है और वह भी अपने से वडी मछली के लिए आहार वन जाती है । इस प्रकार सर्वाधिक शक्तिशाली का ही अस्तित्व अव-शिष्ट रहता है । शक्तिहीनो का उसी मे समाहार हो जाता है । मनुष्य की इस सहज प्रवृत्ति का अपवाद भरत भी नही है । उसने चक्रवर्ती सम्राट वनने का लक्ष्य निर्धारित किया है, तो वह तुम लोगो पर भी विजय प्राप्त करना ही चाहेगा । बन्धुत्व का सम्वन्ध उसके इस मार्ग मे वाधक नही वने—यह भी स्वाभाविक है । प्रभु कुछ क्षण मौन रहकर फिर मधुर गिरा से वोले—पुत्रो ! यह उसका सत्ता और पद का मद है जिसे प्रतिवधित कर पाने का सामर्थ्य तो तुम लोगो मे नही है, किन्तु तुम भी क्षत्रिय वीर

होकर राजा ने कहा कि अपनी शक्ति के गर्व मे भरत ने भगवान द्वारा निर्धारित की गयी सारी राज्य-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया है। मैं उसे इस अपराध के लिए क्षमा नही करूँगा। मेरे शेष भाइयो की भाँति मैं उसकी अधीनता स्वीकार नही कर सकता। मैं उससे युद्ध करने को तत्पर हूँ। उसके अभिमान को चूर-चूर कर दूंगा। वाहुवली का यह विचार जानकर सम्राट भरत को भी क्रोध आया और उसने अपनी विशाल सेना लेकर वाहुवली पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। समरागण मे रक्त की सरिताएँ प्रवाहित होने लगी। इस भयकर नर-सहार को देखकर वाहुवली का मन विचलित हो उठा। निरीह जनो का यह सहार उसे व्यर्थ प्रतीत होने लगा। उसके करुण हृदय मे एक भावना उद्भूत हुई कि दो भाइयो के दर्प के लिए क्यो इतना विनाश हो ? उसने भरत के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सेना को विश्राम करने दिया जाय और हम दोनो द्वन्द्वयुद्ध करें और इसका परिणाम ही दोनो पक्षो को मान्य हो तथा उनकी स्थितियो का निर्धारण करे। प्रस्ताव को भरत ने स्वीकार कर लिया।

अव दोनो भाई द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और मुष्टि-युद्ध मे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विजय वाहुवली के पक्ष मे रही। भरत पराजित होकर निस्तेज होता जा रहा था। यदि अन्तिम रूप से भी वाहुवली ही विजयी रहता है, तो चक्रवर्ती सम्राट होने का गौरव उसे प्राप्त हो जाता है, भरत को नही। वडी नाजुक परिस्थिति भरत के समक्ष आ उपस्थित हुई। इसी समय देवताओ ने भरत को चक्रायुध प्रदान किया। पराजय की कुठा से ग्रस्त भरत ने चक्र से वाहुवली पर प्रहार किया। यह अनीति थी, द्वन्द्वयुद्ध की मर्यादा का उल्लघन था और इसे बाहुबली सहन न कर सका। परम शक्तिशाली वाहुवली ने इस आयुध को हस्तगत कर उसी से भरत पर प्रहार करने का विचार किया, किन्तु तुरन्त ही संभल गया। सोचा—क्या असार विपयो के उपभोग के लिए मेरा यह अनीतिपूर्ण चरण उचित होगा, सर्वथा नही। भरत ने अपने भाई पर ही प्रहार किया था, अत चक्र भी वाहुवली की परिक्रमा लगाकर वैसे ही लौट आया। भरत को अपनी इस पराजय पर घोर आत्मग्लानि का अनुभव होने लगा। वाहुवली के जय-जयकार से नभो-मडल गूंज उठा। भयकर रोप के आवेश मे जव वाहुवली ने भरत पर मुष्टि प्रहार के लिए अपनी भुजा ऊपर उठाई थी, तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी थी। सभी दिशाओ से क्षमा''''क्षमा का स्वर आने लगा। उसकी उठी हुई भुजा उठी ही रह गयी और वह एक क्षण को सोचने लगा कि एक की भूल के उत्तर मे दूसरा क्यो भूल करे ? क्षमा और प्रेम, शान्ति और अहिंसा हमारे कुल के आदर्श है और वाहुवली ने भरत पर प्रहार का अपना विचार त्याग दिया। भरत के मस्तक के स्थान पर उनकी मुष्टि स्वय अपने ही सिर पर आयी और वाहुवली ने पचमुष्टि लुंचन कर श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया।

दीक्षा ग्रहण करने के लिए वाहुवली भगवान ऋषभदेव के चरणाश्रय मे जाना चाहते थे, किन्तु उनका दर्प वाधक वन रहा था। इस हिचक के कारण उनके चरण उठते ही नहीं थे कि सयम और साधना के मार्ग पर उनके ९८ छोटे भाई उनसे भी

होकर राजा ने कहा कि अपनी शक्ति के गर्व मे भरत ने भगवान द्वारा निर्धारित की गयी सारी राज्य-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया है। मैं उसे इस अपराध के लिए क्षमा नही करूँगा। मेरे शेष भाइयो की भाँति मैं उसकी अधीनता स्वीकार नही कर सकता। मैं उससे युद्ध करने को तत्पर हूँ। उसके अभिमान को चूर-चूर कर दूँगा। बाहुबली का यह विचार जानकर सम्राट भरत को भी क्रोध आया और उसने अपनी विशाल सेना लेकर बाहुबली पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। समरागण मे रक्त की सरिताएँ प्रवाहित होने लगी। इस भयकर नर-सहार को देखकर बाहुबली का मन विचलित हो उठा। निरीह जनो का यह सहार उसे व्यर्थ प्रतीत होने लगा। उसके करुण हृदय मे एक भावना उद्भूत हुई कि दो भाइयो के दर्प के लिए क्यो इतना विनाश हो? उसने भरत के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सेना को विश्राम करने दिया जाय और हम दोनो द्वन्द्वयुद्ध करें और इसका परिणाम ही दोनो पक्षो को मान्य हो तथा उनकी स्थितियो का निर्धारण करे। प्रस्ताव को भरत ने स्वीकार कर लिया।

अब दोनो भाई द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और मुष्टि-युद्ध मे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विजय बाहुबली के पक्ष मे रही। भरत पराजित होकर निस्तेज होता जा रहा था। यदि अन्तिम रूप से भी बाहुबली ही विजयी रहता है, तो चक्रवर्ती सम्राट होने का गौरव उसे प्राप्त हो जाता है, भरत को नही। बडी नाजुक परिस्थिति भरत के समक्ष आ उपस्थित हुई। इसी समय देवताओ ने भरत को चक्रायुध प्रदान किया। पराजय की कुठा से ग्रस्त भरत ने चक्र से बाहुबली पर प्रहार किया। यह अनीति थी, द्वन्द्वयुद्ध की मर्यादा का उल्लघन था और इसे बाहुबली सहन न कर सका। परम शक्तिशाली बाहुबली ने इस आयुध को हस्तगत कर उसी से भरत पर प्रहार करने का विचार किया, किन्तु तुरन्त ही सँभल गया। सोचा—क्या असार विषयो के उपभोग के लिए मेरा यह अनीतिपूर्ण चरण उचित होगा, सर्वथा नही। भरत ने अपने भाई पर ही प्रहार किया था, अत चक्र भी बाहुबली की परिक्रमा लगाकर वैसे ही लौट आया। भरत को अपनी इस पराजय पर घोर आत्मग्लानि का अनुभव होने लगा। बाहुबली के जय-जयकार से नभो-मडल गूँज उठा। भयकर रोष के आवेश मे जब बाहुबली ने भरत पर मुष्टि प्रहार के लिए अपनी भुजा ऊपर उठाई थी, तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी थी। सभी दिशाओ से क्षमा····क्षमा का स्वर आने लगा। उसकी उठी हुई भुजा उठी ही रह गयी और वह एक क्षण को सोचने लगा कि एक की भूल के उत्तर मे दूसरा क्यो भूल करे? क्षमा और प्रेम, शान्ति और अहिंसा हमारे कुल के आदर्श हैं और बाहुबली ने भरत पर प्रहार का अपना विचार त्याग दिया। भरत के मस्तक के स्थान पर उनकी मुष्टि स्वय अपने ही शिर पर आयी और बाहुबली ने पचमुष्टि लुंचन कर श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया।

दीक्षा ग्रहण करने के लिए बाहुबली भगवान ऋषभदेव के चरणाश्रय मे जाना चाहते थे, किन्तु उनका दर्प बाधक बन रहा था। इस हिचक के कारण उनके चरण बढते ही नही थे कि सयम और साधना के मार्ग पर उनके ९८ छोटे भाई उनसे भी

होकर राजा ने कहा कि अपनी शक्ति के गर्व मे भरत ने भगवान द्वारा निर्धारित की गयी सारी राज्य-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया है। मैं उसे इस अपराध के लिए क्षमा नही करूँगा। मेरे शेष भाइयो की भाँति मै उसकी अधीनता स्वीकार नही कर सकता। मै उससे युद्ध करने को तत्पर हूँ। उसके अभिमान को चूर-चूर कर दूँगा। बाहुबली का यह विचार जानकर सम्राट भरत को भी क्रोध आया और उसने अपनी विशाल सेना लेकर बाहुबली पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। समरांगण मे रक्त की सरिताएँ प्रवाहित होने लगी। इस भयंकर नर-संहार को देखकर बाहुबली का मन विचलित हो उठा। निरीह जनो का यह संहार उसे व्यर्थ प्रतीत होने लगा। उसके करुण हृदय मे एक भावना उद्भूत हुई कि दो भाइयो के दर्प के लिए क्यो इतना विनाश हो? उसने भरत के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सेना को विश्राम करने दिया जाय और हम दोनो द्वन्द्वयुद्ध करे और इसका परिणाम ही दोनो पक्षो को मान्य हो तथा उनकी स्थितियो का निर्धारण करे। प्रस्ताव को भरत ने स्वीकार कर लिया।

अब दोनो भाई द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और मुष्टि-युद्ध मे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विजय बाहुबली के पक्ष मे रही। भरत पराजित होकर निस्तेज होता जा रहा था। यदि अन्तिम रूप से भी बाहुबली ही विजयी रहता है, तो चक्रवर्ती सम्राट होने का गौरव उसे प्राप्त हो जाता है, भरत को नही। बड़ी नाजुक परिस्थिति भरत के समक्ष आ उपस्थित हुई। इसी समय देवताओ ने भरत को चक्रायुध प्रदान किया। पराजय की कुंठा मे ग्रस्त भरत ने चक्र से बाहुबली पर प्रहार किया। यह अनीति थी, द्वन्द्वयुद्ध की मर्यादा का उल्लंघन था और इसे बाहुबली सहन न कर सका। परम शक्तिशाली बाहुबली ने इस आयुध को हस्तगत कर उसी से भरत पर प्रहार करने का विचार किया, किन्तु तुरन्त ही संभल गया। सोचा—क्या असार विषयो के उपभोग के लिए मेरा यह अनीतिपूर्ण चरण उचित होगा, सर्वथा नही। भरत ने अपने भाई पर ही प्रहार किया था, अत चक्र भी बाहुबली की परिक्रमा लगाकर वैसे ही लौट आया। भरत को अपनी इस पराजय पर घोर आत्मग्लानि का अनुभव होने लगा। बाहुबली के जय-जयकार से नभो-मण्डल गूँज उठा। भयंकर रोष के आवेश मे जब बाहुबली ने भरत पर मुष्टि प्रहार के लिए अपनी भुजा ऊपर उठाई थी, तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी थी। सभी दिशाओ मे क्षमा''''क्षमा का स्वर आने लगा। उसकी उठी हुई भुजा उठी ही रह गयी और वह एक क्षण को सोचने लगा कि एक की भूल के उत्तर मे दूसरा क्यो भूल करे? क्षमा और प्रेम, शान्ति और अहिंसा हमारे कुल के आदर्श है और बाहुबली ने भरत पर प्रहार का अपना विचार त्याग दिया। भरत के मस्तक के स्थान पर उसकी मुष्टि स्वयं अपने ही सिर पर आयी और बाहुबली ने पंचमुष्टि लुंचन कर श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया।

दीक्षा ग्रहण करने के लिए बाहुबली भगवान ऋषभदेव के चरणाश्रय मे जाना चाहते थे, किन्तु उनका दर्प बाधक बन रहा था। इस विचार के कारण उनके चरण रुके जा रहे थे कि संयम और साधना के मार्ग पर उनके ९८ छोटे भाई उनसे भी

जनो के लिये आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। अपनी आयु के अन्तिम समय मे भगवान अष्टापद पर्वत पर पधार गये। वहाँ आप चतुर्थ भक्त के अनशन तप मे ध्यान-लीन होकर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण मे प्रविष्ट हुए। भगवान ने वेदनीय, आयु नाम और गोत्र के चार अघाति कर्म नष्ट कर दिये। माघ कृष्णा त्रयोदशी को अभिजित नक्षत्र की घडी मे भगवान ने समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

भगवान के धर्मसघ मे लगभग ८४ हजार श्रमण थे और कोई ३ लाख श्रमणियाँ। भगवान के ८४ गणधर थे। प्रत्येक के साथ श्रमणो का समूह था जिसे 'गण' कहा जाता था। सम्पूर्ण श्रमण सघ विभिन्न गुणो के आधार पर ७ श्रेणियो मे विभाजित था—

(१) केवलज्ञानी (२) मन पर्यवज्ञानी (३) अवधिज्ञानी (४) वैक्रियलब्धिधारी (५) चौदह पूर्वधारी (६) वादी और (७) सामान्य साधु।

भगवान ऋषभदेव के धर्म-परिवार की सुविशालता के सन्दर्भ मे निम्न तालिका उल्लेखनीय है—

गणधर	८४
केवली	२०,०००
मन.पर्यवज्ञानी	१२,६५०
अवधिज्ञानी	९,०००
वैक्रियलब्धिधारी	२०,६००
चौदह पूर्वधारी	४,७५०
वादी	१२,६५०
साधु	८४,०००
साध्वी	३,००,०००
श्रावक	३,०५,०००
श्राविका	५,५४,०००

□□

तनिक भी नही सोच पाता। जीवन का यह असार रूप ही क्या मनुष्य को मनुष्य कहलाने का अधिकारी बना पाता है ? क्या इसी मे मानव-जीवन की सफलता निहित रहती है ? जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन राजा विमलवाहन का स्वभाव ही हो गया था।

एक समय का प्रसग है कि आचार्य अरिदमन का आगमन इस नगर मे हुआ। आचार्यश्री उद्यान मे विश्राम कर रहे थे। महाराजा ने जब यह समाचार पाया तो उनके हृदय मे नवीन प्रेरणा, उत्साह और हर्ष जागृत हुआ। उल्लसित होकर महाराजा उद्यान मे गये और आचार्य के दर्शन कर गद्‌गद हो गये। आचार्य के त्यागमय जीवन का महाराजा के मन पर गहरा प्रभाव हुआ। आचार्य से विरक्ति और त्याग का उपदेश पाकर तो उनका हृदय-परिवर्तन ही हो गया। समस्त दुविधाएँ, समस्त वासनाएँ शान्त हो गयी। एक अभीष्ट मार्ग उन्हे मिल गया था, जिस पर वे यात्रा के लिए वे सकल्पबद्ध हो गये।

विरक्त होकर महाराजा विमलवाहन ने यौवन मे ही जगत् का त्याग कर दिया। वे राज्यासन पर पुत्र को आरूढ कर स्वय तपस्या के लिए अनगार बन गये। मुनि जीवन मे विमलवाहन ने अत्यन्त कठोर तप-साधना की और उन्हे अनुपम उपलब्धियाँ भी मिली। ५ समित, ३ गुप्ति की साधना के अतिरिक्त भी अनेकानेक तप, अनुष्ठान आदि मे वे सतत् रूप से व्यस्त रहे। एकावली, रत्नावली, लघुसिह-महासिह-निक्रीडित आदि तपस्याएँ सम्पन्न कर वे कर्म-निर्जरा मे सफल रहे और बीस बोल की आराधना कर उन्होने तीर्थंकर नाम-कर्म भी उपार्जित किया था। परिणामत जब उन्होने अनशन कर देह त्यागा, तो विजय विमान मे वे अहमिन्द्र देव के रूप मे उद्‌भूत हुए।

जन्म एवं वश

विनीता नगरी मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी धर्मपत्नी महारानी विजया देवी अति धर्मपरायणा महिला थी। इसी राजपरिवार मे विमलवाहन का जीव राजकुमार अजितनाथ के रूप मे अवतरित हुआ था। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रोहिणी नक्षत्र के सुन्दर योग मे विमलवाहन का जीव विजय विमान से च्युत हुआ था और उसी रात्रि मे महारानी विजया देवी ने गर्भ धारण किया था। गर्भवती महारानी ने १४ महान स्वप्नो का दर्शन किया। परिणामोत्सुक महाराजा जितशत्रु ने स्वप्न-फल-द्रष्टाओ को ससम्मान निमन्त्रित किया, जिन्होने स्वपनो की सारी स्थितियो से अवगत होकर विचारपूर्वक उनके भावी परिणामो की घोषणा करते हुए कहा कि महारानी ऐसे पुत्र की जननी बनने वाली हैं जो महान चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर होगा। सामुद्रिको की इस घोषणा से राजपरिवार ही नही समूचे राज्य मे हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। इस परम मगलकारी भावी उद्‌भव के शुभ प्रभाव अभी से ही लक्षित होने लगे थे। उसी रात्रि मे महाराजा जितशत्रु के अनुज सुमित्र की धर्मपत्नी ने भी गर्भ

धिकार को व्यर्थ का जजाल मानता हूँ। अत. इन बन्धनो से मुक्त ही रहना चाहता हूँ—और फिर चाचा भी सर्वभाँति योग्य है। परिस्थितियाँ विपरीत रही। चाचा ने राजा का पद स्वीकार करने के स्थान पर अजितनाथ से ही राजा बनने का प्रबल अनुरोध किया। माता-पिता का आग्रह था ही। इन सब कारणो से विवश होकर उन्हे शासन-सूत्र अपने हाथो मे लेना पडा।

महाराजा अजितनाथ ने प्रजापालन का दायित्व अत्यन्त कौशल और निपुणता के साथ निभाया। राज्य भर मे सुख-शान्ति का ही प्रसार था। व्यवस्थाएँ निर्बाध रूप से चलती थी और सारे राज्य की समृद्धि भी विकसित होने लगी थी। अजितनाथ अपनी इस भूमिका के कर्त्तव्य वाले अश मे ही रुचिशील रहे थे। अधिकारो वाले पक्ष की ओर वे उदासीन बने रहे। अन्तत उन्होने विनीता राज्य का समस्त भार अपने चचेरे अनुज सगर (सुमित्र का पुत्र, जो दूसरा चक्रवर्ती था) को सौपकर स्वय दीक्षित हो जाने का सकल्प कर लिया। वस्तुत अब तक भोगावलि के कर्मभार का प्रभाव क्षीण हो गया था, अत विरक्ति भाव का उदय स्वाभाविक ही था।

दीक्षा ग्रहण एवं केवलज्ञान

अजितनाथ के सकल्प से प्रभावित होकर स्वय लोकान्तिक देवो ने उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अनुरोध किया। एक वर्ष आपने दानादि शुभकार्यों मे व्यतीत किया और तदनन्तर माघ शुक्ला नवमी के शुभ दिन दीक्षा ग्रहण कर ली। सहस्राम्र-वन मे अजितनाथ ने पचमुष्टिक लोचकर सम्पूर्ण सावद्य कर्मों का त्याग किया। असख्य दर्शको ने जय-जयकार किया। दीक्षा की महत्ता से प्रभावित होकर अजितनाथ के साथ ही १००० अन्य राजा व राजकुमारो ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। उस समय स्वय अजितनाथ बेले की तपस्या मे थे। दीक्षा ग्रहण के तुरन्त पश्चात् ही उन्हे मन पर्यव-ज्ञान का लाभ हुआ। आगामी दिवस राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ प्रभु अजितनाथ का प्रथम पारणा क्षीरान्न से सम्पन्न हुआ था।

बारह वर्षो का सुदीर्घकाल प्रभु ने कठोर तप और साधना मे व्यतीत किया। सच्ची निष्ठा और लगन के साथ साधना व्यस्त भगवान अजितनाथ गाँव-गाँव विहार करते रहे। विचरण करते-करते वे जब पुन अयोध्या नगरी मे पहुँचे तो पौष शुक्ला एकादशी को उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे केवली हो गये थे, अरि-हन्त (कर्म शत्रुओ के हननकर्ता) हो गये थे। अरिहन्त के १२ गुण भगवान मे उदित हुए।

प्रथम देशना

केवली प्रभु अजितनाथ का समवसरण हुआ। प्रभु ने अमोघ और दिव्य देशना दी और इस प्रकार वे 'भाव-तीर्थ' की गरिमा मे सम्पन्न हो गये। प्रभु की देशना अलौकिक और अनुपम प्रभावयुक्त थी। ३५ वचनातिशययुक्त प्रभु के वचनो का

3

भगवान संभवनाथ

(चिन्ह—अश्व)

भगवान अजितनाथ के परिनिर्वाण के पश्चात् पुन दीर्घ अन्तराल व्यतीत होने पर तृतीय तीर्थंकर भगवान सभवनाथ का अवतरण हुआ। आपके इस जन्म के महान् कार्य, गरिमापूर्ण व्यक्तित्व एव तीर्थंकरत्व की उपलब्धि पूर्वजन्म के शुभसस्कारो का सुपरिणाम था।

पूर्व जन्म

प्राचीनकाल मे क्षेमपुरी राज्य मे एक न्यायी एव प्रजापालक नरेश विपुलवाहन का शासन था। वह अपने सुकर्मों और कर्त्तव्यपरायणता के आधार पर असाधारणत लोकप्रिय हो गया था। मानव-हित की भावना और सेवा की प्रवृत्ति ही मनुष्य को महान् बनाती है—इस तथ्य को महाराजा विपुलवाहन का सदाचार भलीभाँति प्रमाणित कर देता है।

महाराजा विपुलवाहन के शासनकाल मे क्षेमपुरी एक समय घोर विपत्तियो मे घिर गयी थी। वर्षा के अभाव मे सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। अकाल की भीषण विभीषिका ताण्डव नृत्य करने लगी। हाहाकार की गूँज से प्रतिपल व्योम आपूरित रहता और ये नये मेघ राजा की हृदयधरा पर वेदना की ही वर्षा करते थे। अन्यथा जलदाता मेघ तो चारो ओर से घिरकर आते भी तो सासारिक वैभव की असारता की ही पुष्टि करते हुए बिना बरसे ही बिखर जाते और प्रजा की निराशा पहले की अपेक्षा कई गुनी अधिक बढ जाती। जलाशयो के पेंदो मे दरारें पड गयी। नदी, नाले, कूप, सरोवर कही भी जल की बूँद भी शेष नही रही। भूख-प्यास से तडप-तडप कर प्राणी देह त्यागने लगे।

इस दुर्भिक्ष ने जैसे मानवमात्र को एक स्तर पर ही ला खडा कर दिया था। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के समस्त भेद समाप्त हो गये थे। सभी क्षुधा की शान्ति के लिए चिन्तित थे। अन्नाभाव के कारण सभी कद-मूल, वन्यफल, वृक्षो के पल्लवो और छालो तक से आहार जुटाने लगे। यह भण्डार भी सीमित था। अभागी प्रजा की सहायता यह वानस्पतिक भण्डार भी कब तक करता? जन-जीवन घोर कष्टो को सहन करते-करते क्लान्त हो चुका था।

स्वय राजा भी अपनी प्रजा के कष्टो से अत्यधिक दु खी था। उसने भर-

3

भगवान संभवनाथ

(चिन्ह—*अश्व*)

भगवान अजितनाथ के परिनिर्वाण के पश्चात् पुन दीर्घ अन्तराल व्यतीत होने पर तृतीय तीर्थंकर भगवान सभवनाथ का अवतरण हुआ। आपके इस जन्म के महान् कार्य, गरिमापूर्ण व्यक्तित्व एव तीर्थंकरत्व की उपलब्धि पूर्वजन्म के शुभसस्कारो का सुपरिणाम था।

पूर्व जन्म

प्राचीनकाल मे क्षेमपुरी राज्य मे एक न्यायी एव प्रजापालक नरेश विपुल-वाहन का शासन था। वह अपने सुकर्मों और कर्त्तव्यपरायणता के आधार पर असाधारणत लोकप्रिय हो गया था। मानव-हित की भावना और सेवा की प्रवृत्ति ही मनुष्य को महान् बनाती है—इस तथ्य को महाराजा विपुलवाहन का सदाचार भलीभाँति प्रमाणित कर देता है।

महाराजा विपुलवाहन के शासनकाल मे क्षेमपुरी एक समय घोर विपत्तियो मे घिर गयी थी। वर्षा के अभाव मे सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। अकाल की भीषण विभीषिका ताण्डव नृत्य करने लगी। हाहाकार की गूँज से प्रतिपल व्योम आपूरित रहता और ये नये मेघ राजा की हृदयधरा पर वेदना की ही वर्षा करते थे। अन्यथा जलदाता मेघ तो चारो ओर से घिरकर आते भी तो सासारिक वैभव की असारता की ही पुष्टि करते हुए बिना बरसे ही बिखर जाते और प्रजा की निराशा पहले की अपेक्षा कई गुनी अधिक बढ जाती। जलाशयो के पेंदो मे दरारें पड गयी। नदी, नाले, कूप, सरोवर कही भी जल की बूंद भी शेष नही रही। भूख-प्यास से तडप-तडप कर प्राणी देह त्यागने लगे।

इस दुर्भिक्ष ने जैसे मानवमात्र को एक स्तर पर ही ला खडा कर दिया था। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के समस्त भेद समाप्त हो गये थे। सभी क्षुधा की शान्ति के लिए चिन्तित थे। अन्नाभाव के कारण सभी कद-मूल, वन्यफल, वृक्षो के पल्लवो और छालो तक से आहार जुटाने लगे। यह भण्डार भी सीमित था। अभागी प्रजा की सहायता यह वानस्पतिक भण्डार भी कब तक करता? जन-जीवन घोर कष्टो को सहन करते-करते क्लान्त हो चुका था।

स्वय राजा भी अपनी प्रजा के कष्टो से अत्यधिक दु:खी था। उसने भर-

सक प्रयत्न किया, किन्तु दैविक विपत्ति को वह दूर नही कर सका। क्षुधित प्रजा के लिए नरेश विपुलवाहन ने समस्त राजकीय अन्न-भण्डार खोल दिये। उच्चवशीय धनाढ्य जन भी याचको की भाँति अन्न-प्राप्ति की आशा लगाये खड़े रहने लगे। राजा सभी की सहायता करता और सेवा से उत्पन्न हार्दिक प्रसन्नता मे निमग्न-सा रहता। प्रत्येक वर्ग की देख-माल वह स्वय किया करता और सभी को यथोचित अन्न मिलता रहे—इसकी व्यवस्था करता रहता था।

क्षेमपुरी मे विचरणशील श्रमणो और त्यागी गृहस्थो पर इस प्राकृतिक विपदा का प्रभाव अत्यन्त प्रचण्ड था। ये किस गृहस्थ के द्वार जाकर आहार की याचना करते ? सभी तो सकट-ग्रस्त थे। चाहते हुए भी तो कोई साधुजनो को भिक्षा नही दे पाता था। धार्मिक प्रवृत्ति पर भी यह एक विचित्र सकट था। ये श्रमणजन दीर्घ उपवासो के कारण क्षीण और दुर्बल हो गये थे। जब राजा विपुलवाहन को इनकी सकटापन्न स्थिति का ध्यान आया तो वह दौडकर श्रमणजन के चरणो मे पहुँचा, श्रद्धा सहित नमन किया और बार-बार गिडगिडाकर क्षमा-याचना करने लगा कि अब तक वह इनकी सेवा-सत्कार नही कर सका। उसे अपनी इस भूल पर बडा दुःख हो रहा था। राजा ने अत्यन्त आग्रह के साथ उन्हे निमन्त्रित किया और प्रार्थना की कि मेरे लिए तैयार होने वाले भोजन मे से आप कृपापूर्वक अपना आहार स्वीकार करें। राजा का आग्रह स्वीकृत हो गया। सभी श्रमणजन, त्यागी गृहस्थ, समस्त श्री सघ अब भिक्षार्थ राजमहल मे आने लगा।

राजा विपुलवाहन ने अपने अधिकारियो को आदेश दे रखा था कि मेरे लिए जो भोजन तैयार हो, उसमे से पहले श्रमणो को भेंट किया जाय। जो कुछ शेप रहेगा मैं तो उसी से सन्तुष्ट रहूँगा। हुआ भी ऐसा ही और कभी राजा को क्षुधा-शान्ति के लिए कुछ मिल जाता और कभी तो वह भी प्राप्त नही हो पाता, किन्तु उसे जन-सेवा का अपार सन्तोप बना रहता था। उसका विचार था कि मैं स्वादिष्ट, श्रेष्ठ व्यजनो का सेवन करता रहूँगा तो वैसी परिस्थिति मे मुझे न तो श्रमणो के दान का फल प्राप्त होगा और न ही मेरी प्रजा के कष्टो का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे हो सकेगा।

मानव मात्र के प्रति सहानुभूति और सेवा की उत्कट भावना और सघ की सेवा के प्रतिफल स्वरूप राजा विपुलवाहन ने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। कालान्तर मे राज्यभार अपने पुत्र को सौपकर वह दीक्षा ग्रहण कर साधना-पथ पर अग्रसर हुआ। कठोर तपस्याओ-साधनाओ के पश्चात् जब उसका आयुष्य पूर्ण हुआ तो उसे आनत स्वर्ग मे स्थान प्राप्त हुआ।

जन्म-वंश

श्रावस्ती नगरी मे उन दिनो महाराज जितारि का राज्य था। महारानी सेनादेवी उसकी धर्मपत्नी थी। विपुलवाहन का जीव इसी राजपरिवार मे पुत्र रूप

मे उत्पन्न हुआ था। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र मे वह पुण्यशाली जीव स्वर्ग से च्युत होकर महारानी सेनादेवी के गर्भ मे आया और रानी ने चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर की जननी होने का फल देने वाले चौदह महाशुभ स्वप्नो का दर्शन किया। स्वप्नफल-दर्शको की घोषणा से राज्य भर मे उल्लास प्राप्त हो गया। अत्यन्त उमग के साथ माता ने सयम-नियम पूर्वक आचरण-व्यवहार के साथ गर्भ का पोषण किया। उचित समय आने पर मृगशिर शुक्ला चतुर्दशी की अर्द्धरात्रि को रानी ने उस पुत्र-रत्न को जन्म दिया, जिसकी अलौकिक आभा मे समस्त लोक आलोकित हो गया।

युवराज के जन्म से सारे राज्य मे अद्भुत परिवर्तन होने लगे। सभी की समृद्धि मे अभूतपूर्व वृद्धि होने लगी। धान्योत्पादन कई-कई गुना अधिक होने लगा। इसके अतिरिक्त महाराज जितारि को अब तक असम्भव प्रतीत होने वाले कार्य सभव हो गये, स्वत ही सुगम और करणीय हो गये। अत माता-पिता ने विवेक पूर्वक अपने पुत्र का नाम रखा—'सभव कुमार।'

अनासक्त गृहस्थ जीवन

युवराज सभवकुमार ज्यो-ज्यो आयु प्राप्त करने लगा, उसके सुलक्षण और शुभकर्म प्रकट होते चले गये। शीघ्र ही उसके व्यक्तित्व मे अद्भुत तेज, पराक्रम और शक्ति-सम्पन्नता की झलक मिलने लगी। अल्पायु मे ही उसे अपार ख्याति प्राप्त होने लगी थी। उपयुक्त वय प्राप्त करने पर महाराजा जितारि ने श्रेष्ठ और सुन्दर कन्याओ के साथ युवराज का विवाह किया। जितारि को आत्म-कल्याण की लगन लगी हुई थी, अत वह अपने उत्तराधिकारी सभवकुमार को राज्यादि समस्त अधिकार सौंपकर स्वय विरक्त हो गया और साधनालीन रहने लगा।

अब सभवकुमार नरेश थे। वे अपार वैभव और सत्ताधिकार के स्वामी थे। सुखोपभोग की समस्त सामग्रियां उनके लिए सुलभ थी, स्वर्गोपम जीवन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध थी। किन्तु सभवकुमार का जीवन इन सब भोगो मे व्यस्त रहकर व्यर्थ हो जाने के लिए था ही नही। अपनी इस महिमायुक्त स्थिति के प्रति वे उदासीन रहते थे। प्रत्येक सुखकर और आकर्षक वस्तु के पीछे छिपी उसकी नश्वरता का, अनित्यता का ही दर्शन सभवकुमार को होता रहता था और उन वस्तुओ के प्रति उनकी रुचि बुझ जाती। चिन्तनशीलता और गभीरता के नये रग उसके व्यक्तित्व मे गहरे होने लगे।

अनासक्त भाव से ही वे राज्यासन पर विराजित और वैभव-विलास के वातावरण मे विहार करते रहे। भौतिक समृद्धियो और ऐश्वर्य की अस्थिरता से तो वे परिचित हो ही गये थे। उन्होने साधनहीनो को अपना कोष लुटा दिया। अपार मणि-माणिक्यादि सब कुछ उन्होने उदारतापूर्वक दान कर दिया। भोगो के यथार्थ और वीभत्स स्वरूप के साथ उनका परिचय हो गया। उनकी चिन्तनशीलता की

प्रवृत्ति ने उन्हें अनुभव करा दिया था कि जैसे विषाक्त व्यजन प्रत्यक्षत बड़े स्वादु होते हुए भी अन्तत घातक ही होते है—ठीक उसी प्रकार की स्थिति सासारिक सुखो और भोगो की हुआ करती है। वे बड़े सुखद और आकर्षक लगते हुए भी परिणामो मे अहितकर होते हैं, ये आत्मा की बडी भारी हानि करते हैं। अज्ञान के कारण ही मनुष्य भोगो के इस यथार्थ को पहचानने मे असमर्थ है वह उसके छद्म रूप को ही उसका सर्वस्व मान बैठा है। सभवनाथ को यह देखकर घोर वेदना होती कि असख्य कोटि आत्माएँ श्रेष्ठतम 'मानव-जीवन' प्राप्त कर भी अपने चरम लक्ष्य–'मोक्ष-प्राप्ति' के लिए सचेष्ट नही है। इस उच्चतर उपलब्धि से वह लाभान्वित होने के स्थान पर हीन प्रयोजनो मे इसे व्यर्थ करता जा रहा है। मानवयोनि की महत्ता से वह अपरिचित है।

महाराजा सभवनाथ को जब यह अनुभव गहनता के साथ होने लगा तो सर्वजनहिताय बनने की उत्कट कामना भी उनके मन मे जागी और वह उत्तरोत्तर बलवती होने लगी। उन्होने निश्चित किया कि मैं सोई हुई आत्माओ को जागृत करूँगा, मानव-जाति को उसके उपयुक्त लक्ष्य से परिचित कराऊँगा और उस लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग भी दिखाऊँगा। अब मेरे शेष जीवन की यही भूमिका रहेगी। उन्होने यह भी निश्चय किया कि मैं स्वय इस आदर्श मार्ग पर चलकर अन्यो को अनुसरण के लिए प्रेरित करूँगा। मैं अपना उदाहरण भटकी हुई मानवता के समक्ष प्रस्तुत करूँगा। तभी जनसामान्य के लिए सम्यक् बोध की प्राप्ति सभव होगी।

चिन्तन के इस स्तर पर पहुँचकर ही महाराजा के मन मे त्याग का भाव प्रबल हुआ। वे अपार सम्पत्ति के दान मे प्रवृत्त हो गये थे। भोगावली कर्मो के निरस्त होने तक सभवनाथ चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वाङ्ग काल तक सत्ता का उपभोग करते रहे। इसके पश्चात् वे अनासक्त होकर विश्व के समक्ष अन्य ही स्वरूप मे रहे। अब वे विरक्त हो गये थे।

दीक्षा-ग्रहण . केवलज्ञान

स्वय-बुद्ध होने के कारण उन्हे तीर्थकरत्व प्राप्त हो गया था। तीर्थकरो को अन्य दिशा से उद्बोधन अथवा उपदेश की आवश्यकता नही रहा करती है। तथापि मर्यादा निर्वाह के लिए लोकान्तिक देवो ने आकर अनुरोध भी किया और प्रभु सभवनाथ ने भी प्रव्रज्या ग्रहण करने की कामना व्यक्त की।

भगवान द्वारा किये गये त्याग का प्रारम्भ से ही बडा व्यापक और सघन प्रभाव रहा। दीक्षा-ग्रहण के प्रयोजन से जब वे गृह-त्याग कर सहस्राम्रवन पहुँचे, तो उनके साथ ही एक हजार राजा भी गृह-त्याग कर उनके पीछे चल पड़े। मृगशिर सुदी पूर्णिमा वह शुभ दिवस था जब प्रभु ने मृगशिर नक्षत्र के योग मे दीक्षा ग्रहण करली, सयम धर्म स्वीकार कर लिया। चक्षु, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियो तथा मान, माया,

लोभ और क्रोध इन चार कषायो पर वे अपना दृढ नियत्रण स्थापित कर चुके थे। दीक्षा-ग्रहण के साथ ही साथ आपको मन पर्यवज्ञान का लाभ हो गया था।

दीक्षा के आगामी दिवस प्रभु ने सावत्थी नगरी के महाराजा सुरेन्द्र के यहाँ अपना प्रथम पारणा किया। प्रभु ने अपना शेष जीवन कठोर तप-साधना को समर्पित कर दिया। चौदह वर्ष तक सघन वनो, गहन कदराओ, एकान्त गिरि शिखरो पर ध्यान-लीन रहे, मौनपूर्वक साधना-लीन रहे। छद्मावस्था मे ग्रामानुग्राम विहार करते रहे। अन्तत अपने तप द्वारा प्रभु घनघाती कर्मों के विनाश मे समर्थ हुए। उन्हे श्रावस्ती नगरी मे कार्तिक कृष्णा पचमी को मृगशिर नक्षत्र के शुभ योग मे केवलज्ञान-केवलदर्शन का लाभ हो गया।

प्रथम देशना

प्रभु सभवनाथ ने अनुभव किया था कि युग भौतिक सुखो की ओर ही उन्मुख है। धर्म, वैराग्य, त्याग आदि केवल सिद्धान्त की वस्तुएँ रह गयी थी। इनके मर्म को समझने और उनको व्यवहार मे लाने को कोई रुचिशील नही था। घोर भोग का वह युग था। प्रभु ने अपनी प्रथम देशना मे इस भोग-निद्रा मे निमग्न मानव जाति को जागृत किया। उन्होने जीवन की क्षण-भगुरता और सासारिक सुखोपभोगो की असारता का बोध कराया। जगत के सारे आकर्षण मिथ्या है—यौवन, रूप, स्वजन-परिजन-सम्बन्ध, धन, विलास सब कुछ नश्वर है। इनके प्रभाव की क्षणिकता को मनुष्य अज्ञान-वश समझ नही पाता और उन्हे शाश्वत समझने लगता है। यह अनित्यता मे नित्यता का आभास ही समस्त दु खो का मूल है। यह नित्यता की कल्पना मन मे अमुक वस्तु के प्रति अपार मोह जागृत कर देती है और जब स्वधर्मानुसार वह वस्तु विनाश को प्राप्त होती है, तो उसके अभाव मे मनुष्य उद्विग्न हो जाता है, दु खी हो जाता है। जो यह जानता है कि अस्तित्व ग्रहण करने वाली प्रत्येक वस्तु विनाशशील है, उसे वस्तु के विनाश पर शोक नही होता। प्रभु ने उपदेश दिया कि भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व और प्रभाव को क्षणिक समझो, उसके प्रति मन मे मोह को घर न करने दो। परिग्रह के वन्धन से मन को मुक्त रखो और ममता की प्रवचना को प्रभावी न होने दो। आसक्ति से दूर रहकर शाश्वत सुख के साधन आत्मधर्म का आश्रय ग्रहण करो।

प्रभु के उपदेश से असख्य भटके मनो को उचित राह मिली, भ्रम की निद्रा टूटी और यथार्थ के जागरण मे प्रवेश कर हजारो स्त्री-पुरुषो मे विरक्ति की प्रेरणा अगडाई लेने लगी। मिथ्या जगत् का त्याग कर अगणित जनो ने मुनिव्रत ग्रहण किया। वडी सख्या मे गृहस्थो ने श्रावक व्रत ग्रहण किये। प्रभु ने चार तीर्थ की स्थापना भी की और भाव तीर्थंकर कहलाए।

परिनिर्वाण

चैत्र शुक्ला पचमी को मृगशिर नक्षत्र मे प्रभु सभवनाथ ने परिनिर्वाण की

प्राप्ति की। इस समय वे एक दीर्घ अनशन व्रत मे थे। शुक्लध्यान के अन्तिम चरण मे प्रवेश करने पर प्रभु को यह परम पद प्राप्त हुआ और वे सिद्ध हो गये, बुद्ध और मुक्त हो गये। आपने साठ लाख पूर्व वर्षों का आयुष्य पाया था।

धर्म-परिवार

प्रभु समवनाथ के व्यापक प्रभाव का परिचय उनके अनुयायियो की सख्या की विशालता से भी मिलता है। श्री चारूजी भगवान के प्रमुख शिष्य थे। शेष धर्म-परिवार का विवरण निम्नानुसार है—

गणधर	१०२
केवली	१५,०००
मन पर्यवज्ञानी	१२,१५०
अवधिज्ञानी	६,६००
चौदह पूर्वधारी	२,१५०
वैक्रियलब्धिधारी	१६,८००
वादी	१२,०००
साधु	२,००,०००
साध्वी	३,३६,०००
श्रावक	२,९३,०००
श्राविका	६,३६,०००

□□

4

भगवान अभिनन्दननाथ

(चिन्ह—कपि)

भगवान अभिनन्दन सभवनाथ के पश्चात् अवतरित चौथे तीर्थंकर है।
भगवान अभिनन्दन का जीवन, कृतित्व और उपलब्धियां जीवन-दर्शन के इस तथ्य का एक सुदृढ प्रमाण है कि महान कार्यों के लिए पूर्वभव की श्रेष्ठता और उच्चता अनिवार्य नही हुआ करती। साधारण आत्मा भी तप, साधना, उदारता, क्षमा आदि की प्रवृत्तियो के सघन अपनाव द्वारा महात्मा और क्रमश परमात्मा का गौरव प्राप्त कर सकता है।

पूर्वभव

प्राचीन काल मे रत्नसचया नाम का एक राज्य था। रत्नसचया का राजा था—महाबल। जैसा राजा का नाम था वैसी विशेषताएँ भी उसमे थी। वह परम पराक्रमी और शूर-वीर नरेश था। उसने अपनी शक्ति से अपने राज्य का सुविस्तार किया। समस्त शत्रुओ के अहकार को ध्वस्त कर उसने अनुपम विजय गौरव का लाभ किया। इन शत्रु राज्यो को अपने अधीन कर उसने अपनी पताका फहरा दी। इस रूप मे उसे अपार यश प्राप्त हुआ। सर्वत्र उसकी जय-जयकार गूंजने लगी थी।

पराक्रमी महाराजा महाबल के जीवन मे भी एक अतिउद्दीप्त क्षण आया। उसे आचार्य विमलचन्द्र के उपदेशामृत का पान करने का सुयोग मिला, जिसका अनुपम प्रभाव उस पर हुआ। अब राजा ने अपनी दृष्टि बाहर से हटाकर भीतर की ओर करली। उसका यह गर्व चूर-चूर हो गया कि मैं सर्वजेता हूँ, मैंने शत्रु-समाज का सर्वनाश कर दिया है। उसने जब अन्तर मे झाँका तो पाया कि अभी अनेक आन्तरिक शत्रु उसकी निरन्तर हानि करते चले जा रहे है। उसने अनुभव किया कि मैं काम-क्रोधादि अनेक प्रबल शत्रुओ से घिरा हुआ हूँ। ये शत्रु ही मुझ पर नियत्रण जमाये हुए है और इनके सकेत से ही मेरा कार्य-कलाप चल रहा है। मैं सत्ताधीश हूँ इस विशाल साम्राज्य का किंतु दास हूँ इन विकारो का। इनके अधीन रहते हुए मैं विजयी कैसे कहला सकता हूँ। चिंतनशील महाराज महाबल के मन मे ज्ञान-दीप प्रज्वलित हो गया जिसके आलोक मे ये आन्तरिक शत्रु अपने भयकर वेश मे स्पष्टत दिखायी देने लगे। इनको विनष्ट करने का दृढ सकल्प धारण कर महाबल इस नये युद्ध के लिए साधन-सामग्री जुटाने के प्रयोजन से ससार-विरक्त हो गया।

दीक्षोपरान्त मुनि महावल ने सहिष्णुतापूर्वक अत्यत कठोर साधना की। वह ग्रामानुग्राम विचरण करता, हिंसक पशुओ से भरे भयकर वनो मे विहार करता और साधनालीन रहा करता। जिन-जिन स्थानो पर उसे अधिक पीडा होती, उपद्रवी और अनुदार जनता उसे कष्ट पहुँचाती—उन स्थानो मे ही वह प्राय अधिक रहता और स्वय भी अपने को भौतिक पदार्थों के अभाव की स्थिति मे रखता था। विषम वातावरण मे रहकर उसने प्रतिकूल उपसर्गों मे स्थिरचित रहने की साधना का वह 'क्षमा' के उत्कृष्ट तत्त्व को दृढतापूर्वक अपनाता चला गया। सुदीर्घ एव कठोर तप तथा उच्च कोटि की साधना द्वारा मुनि महावल ने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया। महावल की आत्मा ने उस पचभूत शरीर को त्याग कर देवयोनि प्राप्त की। वह विजय विमान मे अनुत्तर देव वना।

जन्म-वश

अयोध्या नगरी मे राजा सवर का शासन काल था। उनकी धर्म-पत्नी रानी सिद्धार्था अपने अचल शील और अनुपम रूप के लिए अपने युग मे अतिविख्यात थी। इसी राज-परिवार मे मुनि महावल के जीव ने देवलोक से च्युत होकर जन्म धारण किया। तीर्थंकरो की माताओ के समान ही रानी ने १४ दिव्य स्वप्नो का दर्शन किया। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाने लगा कि किसी पराक्रमशील महापुरुष का अवतरण होने वाला है व कालान्तर मे यह अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। यथा समय रानी ने पुत्र को जन्म दिया। इस अद्वितीय तेजवान सन्तान के उत्पन्न होने के अनेक सुप्रभाव दृष्टिगत हुए। सर्वत्र हर्ष का ज्वार आ गया। अपनी प्रजा का अतिशय हर्ष (अभिनन्दन) देखकर राजा को अपने नवजात पुत्र के नामकरण का आधार मिल गया और कुमार को 'अभिनन्दन' नाम से पुकारा जाने लगा। वालक अभिनन्दन कुमार न केवल मृदुलगात्र अपितु आकर्षक, मनमोहक एव अत्यत रूपवान भी था। यहाँ तक कि देवी-देवताओ के मन मे भी इनके साथ क्रीडारत रहने की अभिलाषा जागृत होती थी। उन्हें स्वय भी वालरूप धारण कर अपनी कामना-पूर्ति करने को विवश होना पडता था।

गृहस्थ-जीवन

क्रमश अभिनन्दन कुमार शारीरिक एव मानसिक रूप से विकसित होते रहे और यौवन के द्वार पर आ खडे हुए। स्वभाव से वे चितनशील और गभीर थे। सासारिक सुखो व आकर्षणो मे उनको तनिक भी रुचि नही थी। अपने अन्तर्जगत् मे शून्य और रिक्तता का अनुभव करते थे। अनेक सुन्दरियो से उनका विवाह भी सम्पन्न हो गया, किंतु रमणियो का आकर्षक सौंदर्य और राज्य वैभव भी उनको भोगोन्मुख नही वना सका। राजा सवर ने आत्म-कल्याण हेतु दीक्षा ग्रहण कर जब अभिनन्दन कुमार का राज्याभिषेक कर दिया तो यह उच्च अधिकार पाकर भी वे अप्रभावित रहे। उनकी तटस्थता मे कोई अन्तर नही आया। ज्यो-ज्यो वे विविध पदार्थों से सम्पन्न होते

गये त्यो-ही-त्यो भौतिक जगत् के प्रति असारता का भाव भी उनके मन मे प्रबलतर होता गया ।

दीक्षाग्रहण

पद मे प्राय एक मद रहा करता है जो व्यक्ति को गौरव के साथ-साथ ग्रस्तता भी देता चलता है । सम्राट के समान शक्तिपूर्ण और अधिकार-सम्पन्न उच्च पद पर रहकर भी राजा अभिनन्दन मानसिक रूप से वीतरागी ही बने रहे । दर्प अथवा अभिमान उन्हे स्पर्श भी नही कर पाया । काजल की कोठरी मे रहकर भी उन्होंने कालिख की एक लीक भी नही लगने दी । इसी अवस्था मे उन्होने अपने पद का कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक पूर्ण किया । साढ़े छत्तीस लाख पूर्व की अवधि तक उन्होने नीति एव कर्त्तव्य का पालन न केवल स्वय ही किया, अपितु प्रजाजन को भी इन सन्मार्गो पर गतिशील रहने को प्रेरित किया । प्रजावत्सलता के साथ शासन करके अन्ततः उन्होने दीक्षा ग्रहण करने की अपनी उत्कट कामना को व्यक्त किया । अभीचि-अभिजित नक्षत्र के श्रेष्ठयोग मे माघ शुक्ला द्वादशी को बेले की तपस्या मे रत अभिनन्दन स्वामी ने सयम ग्रहण कर ससार का त्याग कर दिया । सिद्धो की साक्षी रही और प्रभु ने पचमुष्टि लोच किया । उनके साथ एक हजार अन्य राजाओ ने भी सयम स्वीकार किया था । दीक्षोपरान्त आगामी दिवस मुनि अभिनन्दननाथ ने साकेतपुर नरेश इन्द्रदत्त के यहाँ पारणा किया । 'अहोदान' के निनाद के साथ देवो ने इस अवसर पर पांच दिव्य भी प्रकट किये और दान की महिमा का गान किया ।

केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण करते ही आपने मौनव्रत धारण कर लिया, जिसका निर्वाह करते हुए उन्होने १८ वर्ष की दीर्घ अवधि तक कठोर तप किया—उग्रतप, अभिग्रह, ध्यान आदि मे स्वय को व्यस्त रखा । इस समस्त अवधि मे वे छद्मअवस्था मे भ्रमणशील बने रहे और ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे । प्रभु अयोध्या मे सहस्राभवन मे बेले की तपस्या मे थे कि उनका चित्त परम समाधिदशा मे प्रविष्ट हो गया । वे शुभ शुक्लध्यान मे लीन थे कि उसी समय उन्होने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मो का क्षय कर दिया । अभिजित नक्षत्र मे पौष शुक्ला चतुर्दशी को प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ।

प्रथम धर्मदेशना

प्रभु के समवसरण की रचना हुई । देवो तिर्यंचो और मनुजो के अपार समुदाय मे स्वामी अभिनन्दननाथ ने प्रथम धर्मदेशना दी । इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर आपने धर्म के गूढ स्वरूप का विवेचन किया और उसका मर्म स्पष्ट किया । जनता के आत्म-कल्याण का पथ प्रदर्शित किया । अपने धर्मतीर्थ की स्थापना की थी, अत 'भावतीर्थ' के गौरव से आप अलकृत हुए ।

भगवान अभिनन्दन स्वामी की देशना अति महत्त्वपूर्ण एव स्मरणीय समझी जाती

है, जो युग-युग तक आत्मकल्याणार्थियो का मार्ग प्रकाशित करती रहेगी। भगवान ने अपनी देशना मे स्पष्ट किया था कि यह आत्मा सर्वथा एकाकी है, न कोई इसका मित्र है, न सहचर और न ही कोई इसका स्वामी है। ऐसी अशरण अवस्था मे ही निज कर्मानुसार सुख-दु ख का भोग करता रहता है। जितने भी जागतिक सम्बन्धी हैं—माता, पिता, पत्नी, पुत्र, सखा, भाई आदि कोई भी कर्मों के फल भोगने मे साझीदार नही हो सकता। भला-बुरा सब कुछ अकेले उसी आत्मा को प्राप्त होता है। कष्ट और पीडाओ से कोई उसका त्राण नही कर सकता। कोई उसके जरा, रोग और मरण को टाल नही सकता। मात्र धर्म ही उसका रक्षक-सरक्षक होता है। धर्माचारी स्वय इन कष्टो से मुक्त रहने की आश्वस्तता का अनुभव कर पाता है।

इस परम मगलकारी देशना से प्रेरित, प्रभावित और सज्ञान होकर लाखो नर-नारियो ने मुनि-जीवन स्वीकार कर लिया था। अभिनन्दन प्रभु चौथे तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण

भगवान ने ५० लाख पूर्व वर्षों का आयुष्य पूरा किया था। अपने प्रभावशाली और मार्मिक धर्मोपदेश द्वारा जनमानस को भोग से हटाकर त्याग के क्षेत्र मे आकर्षित किया। अन्त मे अपने जीवन का साध्यकाल समीप ही अनुभव कर अनशन व्रत धारण कर लिया जो १ माह निरन्तरित रहा और वैशाख शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र के श्रेष्ठ योग मे प्रभु ने अन्य एक हजार मुनियो के साथ सकलकर्म आवरण को नष्ट कर दिया। वे मुक्त हो गये, उन्हे निर्वाण का गौरव पद प्राप्त हो गया। यही प्रभु की साधना का परम लक्ष्य और जीवन की चरम उपलब्धि थी।

धर्म परिवार

गणधर	११६
केवली	१४,०००
मन पर्यवज्ञानी	११,६५०
अवधिज्ञानी	६,८००
चौदह पूर्वधारी	१,५००
वैक्रिय लब्धिधारी	१६,०००
वादी	११,०००
साधु	३,००,०००
साध्वी	६,३०,०००
श्रावक	२,८८,०००
श्राविका	५,२७,०००

□□

5

भगवान सुमतिनाथ

(चिन्ह—क्रौंच पक्षी)

चौबीस तीर्थंकरो के क्रम मे पचम स्थान भगवान सुमतिनाथ का है। आपके द्वारा तीर्थंकरत्व की प्राप्ति और जीवन की उच्चाशयता का आधार भी पूर्व के जन्म-जन्मान्तरो के सुसस्कारो का परिणाम ही था। इस श्रेष्ठत्व की झलक आगामी पक्तियो मे स्पष्टत आभासित होती है।

पूर्वभव

शखपुर नगर के राजा विजयसेन अपनी न्यायप्रियता एव प्रजावत्सलता के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी प्रियतमा पत्नी महारानी सुदर्शना भी सर्वसुलक्षण-सम्पन्न थी। रानी को अपार सुख-वैभव और ऐश्वर्य तो प्राप्त था किन्तु खटका इसी बात का था कि वह नि सन्तान थी। प्रतिपल वह इसी कारण दु खी रहा करती। एक समय का प्रसग है कि नगर मे वसन्तोत्सव मनाया जा रहा था। आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी उद्यान मे एकत्रित थे। सुन्दर वस्त्रालकारो से सज्जित प्रजाजन पूर्ण उल्लास और उमग के साथ नानाविधि क्रीडाएं करते और आमोद-प्रमोद मे मग्न थे। नरेश के लिए विशेषत निर्धारित भवन पर से राजा और रानी भी इन क्रीडाओ और प्राकृतिक छटा का अवलोकन कर आनन्दित हो रहे थे। रानी सुदर्शना ने इसी समय एक ऐसा दृश्य देखा जिसने उसके मन मे सोयी हुई पीडा को जागृत और उद्दीप्त कर दिया। रानी ने देखा, अनुपम रूपवती एक प्रौढा आसन पर बैठी है और उसकी आठ पुत्र-वधुएँ नाना प्रकार से उसकी सेवा कर रही हैं। श्रेष्ठीराज नन्दीषेण की गृहलक्ष्मी के इस सौभाग्य को देखकर रानी कु ठित हो गयी। वह उद्यान से अनमनी-सी राजभवन लौट आयी। कोमलता के साथ राजा ने जब कारण पूछा, तो रानी ने सारी कष्ट-कथा कह दी। राजा पहले ही पुत्र-प्राप्ति के लिए जितने उपाय हो सकते थे, वे सब करके परास्त हो चुका था, तथापि निराश रानी को उसने वचन दिया कि वह इसके लिए कोई कोर कसर उठा नही रखेगा। वह वास्तव मे पुन सचेष्ट भी हो गया और राजा-रानी का भाग्य परिवर्तित हुआ। यथासमय रानी सुदर्शना ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। रानी ने स्वप्न मे सिंह देखा था—इसे आधार मानकर पुत्र का नाम पुरुषसिंह रखा गया। पुरुषसिंह अतीव पराक्रमशील, शौर्य-सम्पन्न और तेजस्वी कुमार था। उसके इन गुणो का परिचय इस तथ्य से हो जाता है कि युवावस्था प्राप्त होने तक ही उसने अनेक युद्ध

कर समस्त शत्रुओं का दमन कर लिया था। पुरुषसिंह पराक्रमी तो था, किन्तु इस उपलब्धि हेतु उसका जन्म नही हुआ था। उसे तो मोक्ष-प्राप्ति के पवित्र साधन के रूप मे जीवन को प्रयुक्त करना था। इसका सुयोग भी उसे शीघ्र ही मिल गया। राजकुमार वन-भ्रमण के लिए गया हुआ था। घने वन मे उसने एक मुनि आचार्य विनय नन्दन को तप मे लीन देखा। उसके जिज्ञासु मन ने उसे उत्साहित किया। परिणामत. राजकुमार पुरुषसिंह ने मुनि से उनका धर्म, तप का प्रयोजन आदि प्रकट करने का निवेदन किया। मुनि ने राजकुमार को जब धर्म का तत्व-बोध कराया तो राजकुमार के सस्कार जागृत हो गये। वह प्रबुद्ध हो गया। विरक्ति का भाव उसके चित्त मे अगडाइयाँ लेने लगा। उसके मन मे ससार त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर लेने की अभिलाषा क्षण-क्षण मे प्रबल से प्रबलतर होने लगी। दीक्षा के लिए उसने माता-पिता से जब अनुमति की याचना की तो पुत्र की इस अभिलाषा का ज्ञान होने से ही माता हत्चेत हो गयी। ममता का यह दृढभाव भी प्रबल निश्चयी राजकुमार को विचलित नही कर पाया। अन्तत विवश होकर माता-पिता को दीक्षार्थ अपनी अनुमति देनी ही पडी।

दीक्षोपरान्त पुरुषसिंह ने घोर तप किया। क्षमा, समता, नि स्वार्थता आदि श्रेष्ठ आदर्शों को उसने अपने जीवन मे ढाला और २० स्थानो की आराधना की। फलस्वरूप उसने तीर्थंकर-नामकर्म उपार्जित कर लिया और मरणोपरान्त ऋद्धिशाली देव बना। वह वैजयन्त नाम के अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुआ।

जन्म-वंश

जब वैजयन्त विमान की स्थिति समापन पर आ रही थी, उस काल मे अयोध्या के राजा महाराज मेघ थे, जिनकी धर्मपरायणा पत्नी का नाम मगलावती था। वैजयन्त विमान से च्युत होकर पुरुषसिंह का जीव इसी महारानी के गर्भ मे स्थित हुआ। महापुरुषो की माताओ की भाँति ही महारानी मगलावती ने भी १४ शुभ महास्वप्नो का दर्शन किया और वैशाख शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि को पुत्रश्रेष्ठ को जन्म दिया। जन्म के समय मघा नक्षत्र का शुभ योग था। माता-पिता और राजवश ही नही सारी प्रजा राजकुमार के जन्म से प्रमुदित हो गयी। हर्षातिरेकवश महाराज मेघ ने समस्त प्रजाजन के लिए १० दिवसीय अवधि तक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की।

नामकरण

प्रभु सुमतिनाथ के नामकरण का भी एक रहस्य है। पुत्र के गर्भ मे आने के पश्चात् महारानी मगलावती का बुद्धि-वैभव निरन्तर विकसित होता चला गया और उसने महाराजा के काम-काज मे हाथ बँटाना आरम्भ कर दिया। ऐसी-ऐसी विकट समस्याओ को रानी ने सुलझा दिया जो विगत दीर्घकाल से जटिल से जटिलतर होती जा रही थी। विचित्र-विचित्र समस्याओ को रानी सुगमता से हल कर देती। ऐसा ही एक प्रसग प्रसिद्ध है कि किसी सेठ की दो पत्नियाँ थी उनमे से एक को पुत्र-प्राप्ति

हुई थी। ये दोनो सपत्नियाँ और पुत्र घर पर रहते थे और सेठ व्यवसाय के सम्बन्ध मे प्रवास पर रहा करता था। विमाता भी पुत्र के साथ बडा मृदुल, स्नेह भरा व्यवहार रखती थी। दुर्भाग्यवश विदेश मे ही सेठ की मृत्यु हो गयी। अपने पति की सारी सम्पत्ति पर अधिकार करने के लोभ मे विमाता ने पुत्र को अपना ही पुत्र घोषित कर दिया और वास्तविक माता को विमाता बताने लगी। दोनो माताओ मे इस प्रश्न पर बहुत कलह हुआ और वे न्याय हेतु महाराज मेघ के दरबार मे आई। इस विचित्र पहेली से सारा दरबार दग रह गया। किसका दावा सही और किसका मिथ्या—यह ज्ञात करने का कोई मार्ग नही दिखायी पडता था। अन्तत रानी मगलावती ने इस गम्भीर प्रसग को अपने हाथ मे ले लिया। रानी ने दोनो दावेदारो माताओ को कहा कि अभी इस बालक को तुम मेरे पास छोड जाओ। मेरे गर्भ मे एक अत्यन्त ज्ञानवान बालक है। जन्म लेकर वही इस प्रश्न पर निर्णय देगा। तुम्हे कुछ काल प्रतीक्षा करनी होगी। तब तक तुम्हारा बालक मेरे पास रहेगा। उसे कोई कष्ट नही होगा। रानी तो इस पर इन महिलाओ की प्रतिक्रिया ज्ञात करना चाहती थी। विमाता ने रानी के इस प्रस्ताव पर कोई आपत्ति नही की। वह तो जानती थी कि कुछ ही समय की तो बात है। बालक मेरे पास नही भी रहे तो क्या है ? फिर तो मुझे सारा अधिकार मिल ही जायगा किन्तु बालक की जननी रोने-गिडगिडाने लगी। कहने लगी कि नही रानी जी मुझे मेरे बालक से पृथक मत कीजिये। मैं इसके बिना एक पल भी नही रह सकती। रानी ने पहचान लिया कि इसे लोभ नही है। सम्पत्ति का अधिकार मिले या न मिले, किन्तु यह अपने पुत्र को नही छोड सकती। इस मनोवैज्ञानिक बिन्दु को कसौटी मानकर रानी मगलावती ने निर्णय दे दिया। सभी को रानी की इस अद्भुत बुद्धि-क्षमता पर आश्चर्य हुआ। ऐसे-ऐसे अनेक प्रसग आये जिसमे रानी ने अपने विकसित बुद्धि-वैभव का परिचय दिया। यह विकास रानी के गर्भ मे इस राजकुमार के अस्तित्व का प्रतिफल था। अत नवजात राजकुमार को 'सुमतिनाथ' नाम दिया गया।

गृहस्थ-जीवन

उचित वय-प्राप्ति पर महाराजा मेघ ने योग्य व सुन्दर कन्याओ के साथ कुमार सुमतिनाथ का विवाह कराया और वार्धक्य के आगमन पर कुमार को सिंहासनारूढ कर स्वय विरक्त हो गये। राजा सुमतिनाथ ने अत्यन्त न्याय-बुद्धि के साथ उनतीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग वर्षों तक शासन-सूत्र सभाला। पूर्व सस्कारो के प्रभाव-स्वरूप उपयुक्त समय पर राजा के मन मे विरक्ति का भाव प्रगाढ होने लगा और वे भोग कर्मों की समाप्ति पर सयम अगीकार करने को तैयार हुए।

दीक्षा-ग्रहण . केवलज्ञान

सयम का सकल्प दृढ होता गया और राजा सुमतिनाथ ने श्रद्धापूर्वक व[illegible]
किया। वे स्वय प्रबुद्ध हुए और वैशाख शुक्ला नवमी को मघा नक्षत्र [illegible]

राजा सुमतिनाथ पचमुष्टि लोचकर सर्वथा विरागोन्मुख हो गये, मुनि बन गये। दीक्षाग्रहण के इस पवित्र अवसर पर आप षष्ठ-भक्त दो दिन के निर्जल तप मे थे। आपने प्रथम पारणा विजयपुर मे वहाँ के महाराज पद्म के यहाँ किया। यहाँ से उनके जीवन मे साधना का जो अटूट क्रम प्रारम्भ हुआ, वह सतत् रूप से २० वर्षो तक चलता रहा और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करता रहा। साथ-ही-साथ मुनि का आत्मा भी उत्थान प्राप्त करता चला। वे इस दीर्घ अवधि मे छद्मअवस्था मे विचरणशील रहे। भगवान ने अन्त मे धर्मध्यान व शुक्लध्यान से कर्म-निर्जरा की और सहस्राम्रवन मे चार घाती कर्मो का शमन कर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र को श्रेष्ठ घडी मे केवलज्ञान एव केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

प्रथम देशना

प्रभु ने इस प्रकार केवली होकर धर्मदेशना दी। उनके उपदेशामृत से लाभान्वित होने के अभिलाषी देव, दनुज, मनुज, भारी सख्या मे एकत्रित हुए। प्रभु ने विशेपत मोक्ष-मार्ग को अलोकित किया। चतुर्विध सघ की स्थापना द्वारा आप भाव तीर्थंकर की प्रतिष्ठा से भी सम्पन्न हुए।

परिनिर्वाण

४० लाख वर्ष पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु सुमतिनाथ को अपने जीवन के अन्तिम समय की समीपता का आभास होने लगा। एक माह पूर्व से ही प्रभु ने अनशन व्रत धारण कर लिया। जब प्रभु शैलेशी अवस्था मे पूर्ण अयोग दशा मे पहुच गये, तभी चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र मे उन्हे निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

गणधर	१००
केवली	१३,०००
मन पर्यवज्ञानी	१०,४५०
अवधिज्ञानी	११,०००
चौदह पूर्वधारी	२,४००
वैक्रिय लब्धिधारी	१८,४००
वादी	१०,६५०
साधु	३,२०,०००
साध्वी	५,३०,०००
श्रावक	२,८१,०००
श्राविका	५,१६,०००

□□

6

भगवान श्री पद्मप्रभ

(चिन्ह—पद्म)

भगवान पद्मप्रभ स्वामी छठे तीर्थंकर माने जाते हैं। तीर्थंकरत्व की योग्यता अन्य तीर्थकरो की भाँति ही प्रभु प्रद्मप्रभ ने भी अपने पूर्व-भव मे ही उपार्जित कर ली थी। वे पद्म अर्थात् कमलवत् गुणो से सम्पन्न थे।

पूर्वजन्म

प्राचीनकाल मे सुसीमा नगरी नामक एक राज्य था। वहाँ के शासक थे महाराज अपराजित। धर्माचरण की दृढता के लिए राजा की ख्याति दूर-दूर तक व्याप्त थी। परम न्यायशीलता के साथ अपनी सन्तति की भाँति वे प्रजापालन किया करते थे। उच्च मानवीय गुणो को ही वे वास्तविक सम्पत्ति मानते थे और वे इस रूप मे परम धनाढ्य थे। वे देहधारी साक्षात् धर्म से प्रतीत होते थे। सासारिक वैभव व भौतिक सुख-सुविधाओ को वे अस्थिर मानते थे। इसका निश्चय भी उन्हे हो गया था कि मेरे साथ भी इनका सग सदा-सदा का नही है। इस तथ्य को हृदयगम कर उन्होने भावी कष्टो की कल्पना को ही निर्मूल कर देने की योजना पर विचार प्रारम्भ किया। उन्होने दृढतापूर्वक यह निश्चय कर लिया कि मैं ही आत्मबल की वृद्धि कर लूं। पूर्व इसके कि ये बाह्य सुखोपकरण मुझे अकेला छोडकर चले जाएँ, मैं ही स्वेच्छा से इन सबका त्याग कर दू । यह सकल्प उत्तरोत्तर प्रबल होता ही जा रहा था कि उन्हे विरक्ति की अति सशक्त प्रेरणा अन्य दिशा से और मिल गई। उन्हे मुनि पिहिताश्रव के दर्शन करने और उनके उपदेशामृत का पान करने का सुयोग मिला। राजा को मुनि का चरणाश्रय प्राप्त हो गया। महाराज अपराजित ने मुनि के आशीर्वाद के साथ सयम स्वीकार कर अपना साधक-जीवन प्रारम्भ किया। उन्होने अर्हत् भक्ति आदि अनेक आराधनाएँ की और तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित कर आयु समाप्ति पर ३१ सागर की परमस्थिति युक्त ग्रैवेयक देव बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

जन्म-वंश

यही पुण्यशाली अपराजित मुनि का जीव देवयोनि की अवधि पूर्ण हो जाने पर कौशाम्बी के राजकुमार के रूप मे जन्मा। उन दिनो कौशाम्बी का राज्यासन महाराज धर से सुशोभित था और उनकी रानी का नाम सुसीमा था। माघ कृष्णा षष्ठी का दिन और चित्रा नक्षत्र की घडी थी, जब अपराजित का जीव माता सुसीमा रानी के

गर्भ मे स्थित हुआ था। उसी रात्रि को रानी ने चौदह महाशुभकारी स्वप्नो का दर्शन किया। रानी ने इसकी चर्चा राजा से की। स्वप्नो के सुपरिणामो के विश्वास के कारण दोनो को अत्यन्त हर्ष हुआ। रानी को यह कल्पना अत्यन्त सुखद लगी कि वह महान भाग्यशालिनी माता होगी। स्वय महाराज धर ने रानी को श्रद्धापूर्वक नमन किया और कहा कि इस महिमा के कारण देव-देवेन्द्र भी तुम्हे नमन करेंगे।

माता ने आदर्श आचरणो के साथ गर्भ अवधि व्यतीत की। वह दान-पुण्य करती रही, क्षमा का व्यवहार किया और चित्त को यत्नपूर्वक सानन्द रखा। उचित समय आने पर रानी सुसीमा ने पुत्र रत्न को जन्म दिया जो परम तेजोमय और पद्म (कमल) की प्रभा जैसी शारीरिक कान्ति वाला था। कहा जाता है कि शिशु के शरीर से स्वेद-गध के स्थान पर भी कमल की सुरभि प्रसारित होती थी। इस अनुपम रूपवान, मृदुल और सुवासित गात्र शिशु को स्पर्श करने, उसकी सेवा करने का लोभ देवागनाएँ भी सवरण न कर पाती थी और वे दासियो के रूप मे राजभवन मे आती थी। ऐसी स्थिति मे युवराज का नाम 'पद्मप्रभ' रखा जाना स्वाभाविक ही था। नामकरण के आधारस्वरूप एक और भी प्रसङ्ग की चर्चा आती है कि जब वे गर्भ मे थे, तब माता को पद्मशैया पर शयन करने की तीव्र अभिलाषा हुई थी।

गृहस्थ जीवन

कुमार पद्मप्रभ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए बाल्यावस्था का आँगन पार कर यौवन के द्वार पर आये। अब तक वे पर्याप्त बलवान और शौर्य-सम्पन्न हो गये थे। वे पराक्रमशीलता मे किसी भी प्रकार कम नही थे, किन्तु मन से वे पूर्णत अहिंसावादी थे। निरीह प्राणियो के लिए उनकी शक्ति कभी भी आतक का कारण नही बनी। उनके मृदुलगात्र मे मृदुल मन ही निवास था। सासारिक माया-मोह, सुख-वैभव सभी से वे पूर्ण तटस्थ, आत्मोन्मुखी थे। आन्तरिक विरक्ति के साथ-साथ कर्त्तव्यपरायणता का दृढभाव भी उनमे था। यही कारण है कि माता-पिता के आदेश से उन्होने विवाह-बन्धन भी स्वीकार किया और उत्तराधिकार मे प्राप्त राज्यसत्ता का भोग भी किया। प्राचीन इतिहासकारो का मत है कि २१ लाख पूर्व वर्षों तक नीति-कौशल, उदारता और न्यायशीलता के साथ उन्होने शासन-सूत्र सँभाला। सासारिक दृष्टि से इन विषयो की चाहे कितनी ही महिमा क्यो न हो, किन्तु प्रभु इसे तुच्छ समझते थे और महान् मानव जीवन के लिए ऐसी उपलब्धियो को हेय मानते थे। इन्हे उन्होने जीवन का लक्ष्य कभी नही माना। जीवन रूपी यात्रा मे आये विश्राम-स्थल के समान वे इस सत्ता के स्वामित्व को मानते थे। यात्री को तो अभी और आगे बढना है। और वह समय भी शीघ्र आ पहुँचा जब उन्होने यात्रा के शेषाश को पूर्ण करने की तैयारी कर ली। महाराज ने सयम और साधना का मार्ग अपना लिया। समस्त सासारिक सुख, अधिकार-सम्पन्नता, वैभव स्वजन-परिजन आदि की ममता से वे ऊपर उठ गये।

दीक्षा व केवलज्ञान

इस प्रकार सदाचारपूर्वक और पुण्यकर्म करते हुए एव गृहस्थधर्म और राजधर्म की पालना करते हुए अशुभकर्मों का क्षय हो जाने पर प्रभु मोक्ष लक्ष्य की ओर उन्मुख व गतिशील हुए। वर्षीदान सम्पन्न कर षष्ठभक्त (दो दिन के निर्जल तप) के साथ उन्होने दीक्षा प्राप्त कर ली। वह कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। आपके साथ अन्य १००० पुरुषो ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। ब्रह्म-स्थल मे वहाँ के भूपति सोमदेव के यहाँ प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

अब प्रभु सतत् साधना मे व्यस्त रहने लगे। अशुभ कर्मों का अधिकाश प्रभाव पहले ही क्षीण हो चुका था। माया-मोह को वे परास्त कर चुके थे। अवशिष्ट कर्मों का क्षय करने के लिए अपेक्षाकृत अत्यल्प साधना की आवश्यकता रही थी। षष्ठ-भक्त तप के साथ, शुक्लध्यानस्थ होकर प्रभु ने घातिकर्मों को समूल नष्ट कर दिया और इस प्रकार चित्रा नक्षत्र की घडी मे चैत्र सुदी पूर्णिमा को केवलज्ञान भी आपने प्राप्त कर लिया।

प्रथम देशना

केवली होकर प्रभु पद्मप्रभ स्वामी ने धर्मदेशना दी। इस आदि देशना मे प्रभु ने आवागमन के चक्र और चौरासी लाख योनियो का विवेचन किया, जिनमे निज कर्मानुसार आत्मा को भटकते रहना पडता है। नरक की घोर पीडादायक यातनाओ का वर्णन करते हुए प्रभु ने बताया कि आत्मा को बार-बार इन्हे झेलना पडता है। मानव-जीवन के अतिरिक्त अन्य योनियो मे तो आत्मा के लिए कष्ट का कोई पार ही नही है, और इस मनुष्य जीवन मे भी सुख कितना अल्प और अवास्तविक है। ये मात्र काल्पनिक सुख भी असमाप्य नही होते और इसके पश्चात् आने वाले दु ख बडे दारुण और उत्पीडक होते है। सामान्यत इन्ही असार सुखो को मनुष्य जीवन का सर्वस्व मानकर उन्ही की साधना मे समग्र जीवन ही व्यर्थ कर देता है। वह सदा अन्यान्यो के वश मे रहता है। विभिन्न आशाओ के साथ सभी ओर ताकता रहता है, किन्तु अपने अन्तर मे वह नही झांक पाता। आत्मलीन हो जाने पर ही मनुष्य को अपार शान्ति और अनन्त सुखराशि उपलब्ध हो सकती है।

अपार ज्ञानपूर्ण एव मगलकारी धर्म देशना देकर पद्मप्रभ स्वामी ने चतुर्विध धर्मसघ स्थापित किया। अनन्तज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्य इस अनत चतुष्टय के स्वामी होकर प्रभु लोकज्ञ, लोकदर्शी और भावतीर्थ हो गये।

परिनिर्वाण

जीव और जगत् के कल्याण के लिए वर्षो तक प्रभु ने जन-मानस को अनुकूल बनाया, इसके लिए सन्मार्ग की शिक्षा दी और ३० लाख पूर्व वर्ष की आयु मे प्रभु सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। आपको दुर्लभ निर्वाण पद की प्राप्ति हो गई।

धर्म-परिवार

गणधर	१०७
केवली	१२,०००
मन पर्यवज्ञानी	१०,३००
अवधिज्ञानी	१०,०००
चौदह पूर्वधारी	२,३००
वैक्रियलब्धिधारी	१६,८००
वादी	९,६००
साधु	३,३०,०००
साध्वी	४,२०,०००
श्रावक	२,७६,०००
श्राविका	५,०५,०००

□□

बारह गुण केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहंतो मे १२ गुण प्रगट होते है —

१ अनन्तज्ञान
२ अनन्तदर्शन,
३ अनन्तचारित्र,
४ अनन्तबल,
५ अशोकवृक्ष,
६. देवकृत पुष्पवृष्टि,
७ दिव्यध्वनि,
८ चामर,
९ स्फटिक सिंहासन,
१० तीन छत्र,
११ आकाश में देव दुंदुभि,
१२ भामण्डल।

इनमे प्रथम चार आत्मशक्ति के रूप मे प्रगट होते हैं, तथा पांच से बारह तक भक्तिवश देवताओ द्वारा किये जाते है। प्रथम चार को अनन्त चतुष्टय, तथा शेष आठ को अष्टमहाप्रातिहार्य भी कहते है।

7

भगवान सुपार्श्वनाथ

(चिन्ह—स्वस्तिक)

भगवान पद्मप्रभजी के पश्चात् दीर्घकाल तीर्थंकर से शून्य रहा और तदनन्तर सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ का अवतरण हुआ। प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ स्थापित कर भाव अरिहन्त पद प्राप्त किया और जनकल्याण का व्यापक अभियान चलाया था।

पूर्वजन्म

क्षेमपुरी के अत्यन्त योग्य शासक थे—महाराज नन्दिसेन। महाराज प्रजाहित के साथ ही साथ आत्महित मे भी सदा सचेष्ट रहा करते थे। इस दिशा मे उनकी एक सुनिश्चित योजना थी, जिसके अनुसार न्यायपूर्वक शासन-सचालन करने के पश्चात् एक दिन उन्होने आचार्य अरिदमन के आश्रय मे सयम ग्रहण कर लिया। अपने साधक जीवन मे उन्होने अत्यन्त कठोर तप और अचल साधना की। त्याग की प्रवृत्ति मे तो वे अद्वितीय ही थे। नन्दिसेन ने २० स्थानो की आराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया। अन्तत कालधर्म की प्राप्ति के साथ आपको अहमिन्द्र के रूप मे छठे ग्रैवेयक मे स्थान उपलब्ध हुआ।

जन्म-वश

ग्रैवेयक से च्यवनानन्तर वाराणसी मे रानी पृथ्वी के गर्भ मे नन्दिसेन के जीव ने पुन मनुष्य-जन्म ग्रहण किया। इनके पिता का नाम प्रतिष्ठसेन था। गर्भ धारण की शुभ घडी भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को विशाखा नक्षत्र मे आयी थी। उसी रात्रि को महारानी ने १४ दिव्य शुभस्वप्नो का दर्शन किया, जो महापुरुष के आगमन के द्योतक समझे जाते हैं। पृथ्वीरानी ने एक श्वेत हाथी देखा जो उसके मुख की ओर अग्रसर हो रहा था, अपनी ओर आते हुए श्वेत-स्वस्थ बैल का दर्शन किया। इसके अतिरिक्त रानी ने निडर और पराक्रमी सिंह, कमल-आसन पर आसीन लक्ष्मीजी, सुरभित पुष्प-हार, शुभ्र चन्द्रमा, प्रचण्ड सूर्यदेव, उच्च पताका, सजल स्वर्ण कलश, लाल-श्वेत कमल पुष्पो से भरा सरोवर, क्षीरसागर, रत्न-जटित देव-विमान, मूल्यवान रत्न-समूह, प्रखर आलोकपूर्ण दीपशिखा से युक्त स्वप्नो के दर्शन से रानी अचकचा गयी और निद्रा-मुक्त होकर उन पर विचार करने मे लीन हो गयी। महाराज प्रतिष्ठसेन ने जब यह

चर्चा सुनी, तो अपना अनुभव व्यक्त करते हुए उन्होंने रानी से कहा कि इन स्वप्नों को देखने वाली स्त्री किसी चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर की जननी होती है। तुम परम भाग्य-शालिनी हो। महाराज और रानी की प्रसन्नता का पारावार न रहा।

उचित समय पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया। सर्वत्र उमंग और हर्ष व्याप्त हो गया। वह महान् दिन ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी का था। गर्भ-काल में माता के पार्श्व-शोभन रहने के कारण बालक का नाम सुपार्श्वनाथ रखा गया। कुमार सुपार्श्वनाथ पूर्व संस्कारों के रूप में पुण्य-राशि के साथ जन्मे थे। वे अत्यन्त तेजस्वी, विवेकशील और सुहृदय थे।

गृहस्थ-जीवन

बाह्य आचरण में सांसारिक मर्यादाओं का भलीभाँति पालन करते हुए भी अपने अन्तःकरण में वे अनासक्ति और विरक्ति को ही पोषित करते चले। योग्यवय-प्राप्ति पर श्रेष्ठ सुन्दरियों के साथ पिता महाराजा प्रतिष्ठ ने कुमार सुपार्श्वनाथ का विवाह कराया। आसक्ति और काम के उत्तेजक परिवेश में रहकर भी कुमार सर्वथा अप्रभावित रहे। वे इन सब को अहितकर मानते थे और सामान्य से भिन्न वे सर्वथा तटस्थता का व्यवहार रखते थे, न वैभव में उनकी रुचि थी, न रूप के प्रति आकर्षण का भाव। महाराजा प्रतिष्ठ ने कुमार सुपार्श्वनाथ को सिंहासनारूढ़ भी कर दिया था, किन्तु अधिकार-सम्पन्नता एवं प्रभुत्व उनमें रंचमात्र भी मद उत्पन्न नहीं कर सका। इस अवस्था को भी वे मात्र दायित्व पूर्ति का बिन्दु मान कर चले, भोग-विलास का आधार नहीं।

दीक्षा-ग्रहण

सुपार्श्वनाथ के मन में पल्लवित होने वाला यह विरक्ति-भाव परिपक्व होकर व्यक्त भी हुआ और उन्होंने कठोर संयम स्वीकार कर लिया। तब तक उनका यह अनुभव पक्का हो गया था कि अब भोगावली का प्रभाव क्षीण हो गया है। लोकान्तिक देवों के आग्रह पर वर्षीदान सम्पन्न कर सुपार्श्वनाथ ने अन्य एक हजार राजाओं के साथ ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण की थी। षष्ठ-भक्त की तपस्या से उन्होंने मुनि जीवन प्रारम्भ किया। पाटलि खण्ड में वहाँ के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहाँ मुनि सुपार्श्वनाथ ने प्रथम पारणा किया।

केवलज्ञान

दीक्षा-प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् ही प्रभु सुपार्श्वनाथ ने मौनव्रत धारण कर लिया था। अत्यन्त कठोर तप-साधना पूर्ण करते हुए वे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। एकाकीपन उनके विहार की विशेषता थी। उनकी साधना इतनी प्रखर थी कि मात्र नौ मास की अवधि में ही वे आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए सिद्धि की सीमा

पर पहुँच गये थे। तभी एक दिन जब वे शिरीष वृक्ष की छाया मे कायोत्सर्ग किये अचल रूप से खड़े शुक्लध्यान मे लीन थे कि ज्ञानावरण आदि चार घातीकर्म विदीर्ण हो गये। प्रभु को केवलज्ञान का लाभ हो गया। यह प्रसग फाल्गुन शुक्ला षष्ठी का है और उस समय विशाखा नक्षत्र का अति शुभ योग था।

प्रथम धर्मदेशना

प्रभु के केवली हो जाने पर देवताओ ने समवसरण की रचना की और तत्त्व ज्ञान के आलोक से परिपूर्ण धर्मदेशना प्रदान कर प्रभु ने व्यापक जनहित किया। प्रभु ने अपनी देशना मे आत्मा और शरीर की पृथकता का विवेचन किया। इस भेद-विज्ञान का विश्लेषण करते हुए प्रभु ने उपदेश दिया कि ससार के सकल दृश्यमान पदार्थ नश्वर है, अचिर है। इनके साथ ममता स्थापित करना विवेक-विरुद्ध है। यही ममता तब दु:ख की मूल हो जाती है, जब सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे आत्मा (जो अनश्वर है) की शान्ति के लिए आवश्यक है कि इन भौतिक और नश्वर पदार्थों के प्रति अनासक्ति रहे। वैभव, स्वजन-परिजन, यहाँ तक कि अपने शरीर के प्रति भी राग-ग्रस्त न रहे। फिर कष्ट का कोई कारण न रहेगा।

अपना शरीर भी भौतिक है, अस्तित्वधारी है। इस कारण इसकी नश्वरता भी सुनिश्चित है। हमारा सारा ध्यान अमर आत्मा के उत्कर्ष मे निहित रहना चाहिए। शरीर 'पर' है और 'स्व' का स्वरूप आत्मा का है। अपनत्व का बन्धन तभी शिथिल होकर प्रभावहीन होगा, जब मनुष्य शरीर और आत्मा के इस अन्तर को चित्तस्थ करले और तदनुरूप अपने सारे व्यवहार को ढाले। ऐसा व्यक्ति भव-बधन से मुक्ति प्राप्त कर शान्ति और सुख का लाभ करता है।

इस अतिशय प्रभावपूर्ण देशना से अगणित नर-नारी प्रबुद्ध हो गये, सज्ञान हो गये और निर्दिष्ट मार्ग के अनुसरण हेतु प्रेरित हुए। इन जागृत-चित्त असख्य नर-नारियो का विशाल समुदाय प्रभु के चरणाश्रय मे आया। उन्होंने श्रद्धापूर्वक सयम स्वीकार किया। चार तीर्थों की स्थापना कर प्रभु सुपार्श्वनाथ ने ७वें तीर्थंकर की गरिमा प्राप्त की और जन-जन के कल्याणार्थ विहार करते रहे।

परिनिर्वाण

इस प्रकार जगत् का व्यापक मगल करते हुए सुपार्श्वनाथ स्वामी ने २० लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया। अन्तिम समय मे प्रभु ने एक मास का अनशन व्रत धारण किया और समस्त कर्म-समूह को क्षीण कर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। उन्हे दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त हो गया।

धर्म-परिवार

गणधर	९५
केवली	११,०००

मन पर्यवज्ञानी	९,१५०
अवधिज्ञानी	९,०००
चौदह पूर्वधारी	२,०३०
वैक्रियलब्धिधारी	१५,३००
वादी	८,४००
साधु	३,००,०००
साध्वी	४,३०,००० ✓
श्रावक	२,५०,००० ✓
श्राविका	४,९३,०००

□□

सिद्धो के आठ गुण—

१ केवलज्ञान

२ केवलदर्शन

३ अव्याबाधगुण

४ क्षायिक सम्यक्त्व

५ अक्षय स्थिति

६ अरूपीपन

७ अगुरुलघुत्व

८ अनन्त शक्ति

8

भगवान चन्द्रप्रभ

(चिन्ह—चन्द्र)

तीर्थंकर-परम्परा मे आठवाँ स्थान भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी का है। लगभग १ लाख पूर्व वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक केवल पर्याय रूप मे प्रभु ने लक्ष-लक्ष जीवो को सन्मार्ग पर लगाकर उनके कल्याण की महती भूमिका पूरी की थी।

पूर्व जन्म

भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी ने अपने तीर्थंकरत्व युक्त जीवन मे जो महान् और शुभ कर्म किये, जिन सफलताओ और महान् उपलब्धियो के वे स्वामी बने—उसके पीछे उनके पूर्व-जन्म के सुपुष्ट श्रेष्ठ सस्कारो का ही प्रभाव था। यहाँ उनके अन्तिम पूर्व-जीवन का चित्रण इस तथ्य की सत्यता को प्रतिपादित करने हेतु चित्रित किया जा रहा है।

प्राचीनकाल मे घातकीखण्ड मे रत्नसचया नगरी नामक एक राज्य था। चन्द्रप्रभ स्वामी पूर्व-जन्म मे इसी राज्य के राजा महाराज पद्म थे। राजा पद्म उच्चकोटि के योग साधक थे। इस सतत् साधना के प्रभावस्वरूप पद्म राजा के चित्त मे विरक्ति उत्पन्न होने लगी और वे ससार त्यागकर साधक-जीवन व्यतीत करने और आत्म-कल्याण करने की उत्कट अभिलाषा से वे अभिभूत रहने लगे। ऐसी ही मानसिक दशा के सुसमय मे सयोग से उन्हे युगन्धर मुनि के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ। मुनिश्री के सदुपदेशो से उनका जागृत मन और भी उद्दीप्त हो उठा और मुनि युगधर के आश्रय मे ही राजा ने सयम ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात उन्होने कठोर तप किये और वीस स्थानो की आराधना की। परिणामस्वरूप उन्हे तीर्थंकर नामकर्म का लाभ हुआ। चारित्र-धर्म के दृढतापूर्वक पालन और अन्य विशिष्ट उपलब्धियो के साथ जीवन व्यतीत करते हुए जब उन्हे अपना अन्त समय समीप अनुभव हुआ तो उन्होंने और भी आराधनाएँ की और कालधर्म प्राप्त किया। देहावसान पर वे विजय विमान मे अहमिन्द्र देव वने।

जन्म-वंश

पद्म राजा का जीव अहमिन्द्र की स्थिति समाप्त कर जव विजय विमान से च्युत हुआ, तो उसने महारानी लक्ष्मणा के गर्भ मे स्थान पाया। यह प्रसग चैत्र कृष्णा पचमी का है और तव अनुराधा नक्षत्र का सुयोग था। रानी लक्ष्मणा चन्द्र-

पुरी राजा के शासक महाराजा महासेन की धर्मपत्नी थी। रानी ने गर्भ स्थिर होने वाली रात्रि को १४ शुभ स्वप्नों का दर्शन किया, जो महापुरुष के आगमन के सूचक थे। रानी स्वप्न के भावी फल से अवगत होकर अपार हर्ष अनुभव करने लगी। उसने प्रफुल्लचित्तता के साथ गर्भावधि पूर्ण की और पौष कृष्णा द्वादशी की अनुराधा नक्षत्र में दिव्य आभायुक्त पुत्ररत्न को जन्म दिया। राज-परिवार और प्रजाजन ही नहीं देवों ने भी अति प्रसन्नतापूर्वक यह जन्मोत्सव मनाया। बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा गया। इसके पीछे दो कारण थे। एक तो यह कि गर्भावधि में माता रानी लक्ष्मणा ने चन्द्रपान की अपनी अभिलाषा को पूरा किया था और दूसरा कारण यह कि इस नवजात शिशु की प्रभा (कान्ति) चन्द्रमा के समान शुभ्र और दीप्तिमान थी।

गृहस्थ-जीवन

पूर्व संस्कारों के प्रभावस्वरूप कुमार चन्द्रप्रभ के स्वभाव में गम्भीरता, चिन्तनशीलता और सांसारिक आकर्षणों के प्रति अनासक्ति के तत्त्व बाल्यावस्था से ही विद्यमान थे। आयु के साथ-साथ इनमें और भी अभिवृद्धि होती गयी। सांसारिक जीवन से विरक्त स्वभाव होते हुए भी माता-पिता के आग्रह को स्वीकारते हुए युवराज ने गृहस्थ-जीवन में भी प्रवेश किया। उपयुक्त आयु के आगमन पर राजा महासेन ने उनका विवाह योग्य सुन्दरियों के साथ कराया। यह निर्वेद पर वात्सल्य और ममता की अस्थायी विजय ही थी। राज्य सत्ता का भोग भी उन्होंने किया और दाम्पत्य जीवन भी कुछ समय तक व्यतीत तो किया, किन्तु इस व्यवहार पर अतिवाद का स्पर्श कभी नहीं हो पाया। पवित्र कर्त्तव्य के रूप में ही वे इस सब को स्वीकारते रहे।

चन्द्रप्रभ परम बलवान, शूर और पराक्रमी थे, किन्तु व्यवहार में वे अहिंसक थे। उनकी शक्ति किसी अशक्त प्राणी के लिए पीड़ा का कारण कभी नहीं बनी। शत्रुओं पर भी वे नियन्त्रण करते थे— प्रेमास्त्र से, आतंक से नहीं। वे अनुपम आत्म-नियन्त्रण शक्ति के स्वामी थे। वैभव-विलास के अतल सरोवर में रहते हुए भी वे विकारों से निर्लिप्त रहे, कंचन और कामिनी के कुप्रभावों से सर्वथा मुक्त रहे।

उनके जीवन में वह पल भी शीघ्र ही आ गया जब भोग-कर्मों का क्षय हुआ। राजा चन्द्रप्रभ ने वैराग्य धारण कर दीक्षाग्रहण कर लेने का संकल्प व्यक्त कर दिया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के पश्चात् उत्तराधिकारी को शासन सूत्र सौंपकर स्वयं अनगार भिक्षु हो गये।

दीक्षाग्रहण-केवलज्ञान

अनुराधा नक्षत्र के श्रेष्ठ योग में प्रभु चन्द्रप्रभ स्वामी ने पौष कृष्णा त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण की। आगामी दिवस को पद्मखण्ड नरेश महाराजा सोमदत्त के यहाँ पारणा हुआ।

तीन मास तक छद्मावस्था में रहकर प्रभु ने कठोर तप और साधना की। [illegible] प्रदेशों में हिंस्र जीव-जन्तुओं के भयंकर उपसर्ग इन्होंने धैर्यपूर्वक सहे। अनेक

परीषहो मे वे अतुलनीय सहिष्णुता का परिचय देते रहे। दुष्ट प्रवृत्तियो के अल्पज्ञ लोगो ने भी नाना प्रकार के कष्ट देकर व्यवधान उपस्थित किये। रमणियो ने प्रभु की रूपश्री से मोहित होकर उन पर स्वय को न्योछावर कर दिया और प्रीतिदान की अपेक्षा मे अनेक विधि उत्तेजक चेष्टाएँ की, किन्तु इन सभी विपरीत परिस्थितियो मे भी वे अटलतापूर्वक साधनालीन रहे। उनका मन तनिक भी चचल नही हुआ। समता का अद्‌भुत तत्त्व प्रभु मे विद्यमान था।

इन व्यवधानो की कसौटियो पर खरे सिद्ध होते हुए प्रभु चन्द्रप्रभ स्वामी ३ माह की अवधि पूर्ण होते-होते सहस्राम्रवन मे पधारे। प्रियगु वृक्ष तले वे शुक्लध्यान मे लीन हुए और ज्ञानावरण आदि ४ घातिक कर्मों का उन्होने क्षय कर दिया। भगवान को केवलज्ञान का लाभ हो गया।

प्रथम धर्मदेशना

देव, दानवो, पशुओ और मनुष्यो की विशाल सभा मे भगवान ने देशना दी और चतुर्विध सघ की स्थापना की। देवताओ द्वारा रचित समवसरण मे आपने शरीर की अपवित्रता और मलिनता को प्रतिपादित किया। मानव शरीर बाहर से स्वच्छ, सुन्दर और आकर्षक लगता है, किन्तु यह भ्रम है, छलावा है। शरीर की सरचना जुगुप्सित अस्थि-चर्म, मृदादि से हुई है। यदि इस भीतरी स्वरूप का दर्शन कर ले, तो मनुष्य की धारणा ही बदल जाय। इस वीभत्सता के कारण न तो मनुष्य निज शरीर हेतु उचित-अनुचित उपाय करने मे लीन रहे और न ही रमणियो के प्रति आकर्षित हो। यह शरीर मल-मूत्रादि का कोष होकर सुन्दर और पवित्र कैसे हो सकता है। सरस स्वादु भोज्य-पदार्थ भी इस तन के ससर्ग मे रहकर घृण्य हो जाते हैं। यह तन की अशौचता का स्पष्ट प्रमाण है। प्रभु ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि ऐसे अशुचि शरीर की शक्तियो का प्रयोग जो कोई धर्म की साधना मे करता है—वही ज्ञानी है, विवेकशील है। वही पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

प्रभु की वाणी का अमोघ प्रभाव हुआ। चमत्कार की भाँति देशना से प्रेरित हो सहस्रो नर-नारियो ने सयमव्रत धारण कर लिया। दीक्षित होने वालो के अतिरिक्त हजारो जन श्रावकधर्म मे सम्मिलित हो गये। इसके पश्चात भी दीर्घावधि तक अपनी शिक्षाओ से अगणित जनो के कल्याण का पवित्र दायित्व वे निभाते रहे।

परिनिर्वाण

अपने जीवन के अन्तिम समय मे भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी ने सम्मेत शिखर पर अनशन व्रत धारण कर लिया था। इस अन्तिम प्रयत्न से प्रभु ने शेष अघातिक कर्मों को क्षीण कर दिया और निर्वाण पद प्राप्त कर स्वय मुक्त और बुद्ध हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	९३
केवली	१०,०००

मन पर्यवज्ञानी	८,०००
अवधिज्ञानी	८,०००
चौदह पूर्वधारी	२,०००
वैक्रियलब्धिधारी	१४,०००
वादी	७,६००
साधु	२,५०,०००
साध्वी	३,८०,०००
श्रावक	२,५०,०००
श्राविका	४,६१,०००

बीस स्थान—तीर्थंकर रूप मे जन्म लेने से पहले तीर्थंकरो की आत्मा पूर्व जन्मो मे अनेक प्रकार के तप आदि का अनुष्ठान कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करती है। वह बीस स्थानो मे से किसी भी स्थान की उत्कृष्ट आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म बांधती है। वे बीस स्थान इस प्रकार है—

१ अरिहन्त की भक्ति
२ सिद्ध की भक्ति
३ प्रवचन की भक्ति
४ गुरु की भक्ति
५ स्थविर की भक्ति
६ बहुश्रुत (ज्ञानी) की भक्ति
७ तपस्वी की भक्ति
८ ज्ञान मे निरन्तर उपयोग युक्त रहना
९ सम्यक्त्व का निर्दोष आराधन करना
१० गुणवानो का विनय करना
११ विधिपूर्वक षडावश्यक करना
१२ शील एव व्रत का निर्दोष पालन
१३ उत्कृष्ट वैराग्य भावना
१४ तप व त्याग की उत्कृष्टता
१५ चतुर्विध सघ को समाधि उत्पन्न करना
१६ मुनियो की वैयावृत्ति
१७ अपूर्व ज्ञान का अभ्यास
१८ वीतराग वचनो पर दृढ श्रद्धा
१९ सुपात्र दान
२० जिन प्रवचन की प्रभावना

—ज्ञातासूत्र ८

9

भगवान सुविधिनाथ

(चिन्ह—-मकर)

भगवान सुविधिनाथ स्वामी नौवे तीर्थंकर हैं । प्रभु का दूसरा नाम (विशेषत' गृहस्थ जीवन मे) पुष्पदन्त भी था, किन्तु आध्यात्म-क्षेत्र मे वे 'सुविधिनाथ' नाम से ही प्रसिद्ध है ।

पूर्व जन्म

पूर्व जन्म मे वे पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के नरेश महाराजा महापद्म थे । महाराजा न्याय-बुद्धिपूर्ण शासनकर्त्ता के रूप मे भी विख्यात थे और धर्माचरण के लिए भी । स्वेच्छापूर्वक नरेश ने सत्ता त्याग कर मुनि जगन्नन्द के आश्रय मे दीक्षा ग्रहण कर ली थी और शेप जीवन उन्होने साधना मे व्यतीत किया । तप-साधना की उच्चता के आधार पर उन्होने तीर्थंकर नामकर्म अर्जित किया था और देह-त्याग कर वे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र देव वने ।

जन्म-वंश

किसी ममय काकन्दी नगर नामक राज्य मे महाराज सुग्रीव का शासन था । इनकी धर्मपरायणा रानी का नाम रामादेवी था । ये ही भगवान मुविधिनाथ स्वामी के माता-पिता थे । फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र मे वैजयन्त विमान से च्यवित होकर महापद्म का जीव माता रामादेवी के गर्भ मे आया था । तीर्थंकरो की माता की भाँति ही रानी रामादेवी ने भी १४ दिव्य स्वप्नो का दर्शन किया था । स्वप्नशास्त्र की मान्यतानुसार शुभ परिणामो की पूर्व निर्धारणा मे राजा-रानी अतीव प्रसन्न हुए । गर्भकाल मे माता सर्वविधि सकुशल रही । अवधि समाप्ति पर रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । वह मृगशिर कृष्णा पचमी के मूल नक्षत्र की अति शुभ घटी थी । राजपरिवार, प्रजाजन एव प्रफुल्लित देवताओ ने उत्साह एवं प्रमन्नता के साथ प्रभु का जन्मोत्सव मनाया । सर्वत्र ही दिव्य आलोक प्रमरित हो गया था । पिता महाराज मुग्रीव ने मोचा कि वालक जव तक गर्भ मे रहा, रानी रामादेवी सर्वविधि कुगल रही है, अत वालक का नाम मुविधिनाथ रखा जाना चाहिए । माथ ही गर्भकाल मे माता को पुप्प का दोहद उत्पन्न हुआ था अत वालक का नाम पुप्पदन्त भी रखा गया । पर्याप्त काल तक ये दोनो नाम प्रभु के लिए प्रचलित रहे ।

गृहस्थ-जीवन

पूर्व संस्कारों एवं उग्र तपस्याओं के प्रभावस्वरूप इस जन्म में कुमार सुविधिनाथ के व्यक्तित्व में अमित तेज, शक्ति, पराक्रम एवं बुद्धि तत्त्वों का अद्भुत समन्वय था। गृहस्थ-जीवन को प्रभु ने एक लौकिक दायित्व के रूप में ग्रहण किया और तटस्थभाव से उन्होंने उसका निर्वाह भी किया। तीव्र अनासक्ति होते हुए भी अभिभावकों के आदेश का आदर करते हुए उन्होंने विवाह किया। सत्ता का भार भी सँभाला, किन्तु स्वभावतः वे चिन्तन की प्रवृत्ति में ही प्रायः लीन रहा करते थे।

उत्तराधिकारी के परिपक्व हो जाने पर महाराज सुविधिनाथ ने शासन कार्य उसे सौंप दिया और आप अपने पूर्व निश्चित् पन्थ पर अग्रसर हुए, अपना साधक जीवन प्रारम्भ किया।

दीक्षाग्रहण-केवलज्ञान

समस्त भोगावली के क्षीण हो जाने पर लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर भगवान वर्षीदान कर संयम स्वीकार करने को तत्पर हुए। प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने के लिए गृह-त्याग किया और आपके संग अन्य १००० राजाओं ने भी निष्क्रमण किया। मृगशिर कृष्णा षष्ठी का वह पवित्र दिन भी आया जब मूल नक्षत्र के शुभ योग में प्रभु सुविधिनाथ ने सहस्राम्रवन में सिद्धों की साक्षी में स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के पश्चात तत्काल ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान का लाभ हुआ। श्वेतपुर नरेश महाराजा पुष्प के यहाँ आगामी दिवस प्रभु का पारणा हुआ। दीक्षा-समय से ही अपने मौनव्रत भी धारण कर लिया था।

आत्म-केन्द्रित प्रभु सुविधिनाथ ने ४ माह तक सतत् रूप से दृढ़ ध्यान-साधना की। एकान्त स्थलों पर वे सर्वथा एकाकी रूप में आत्मलीन रहा करते। अनेक परीषहों और उपसर्गों को धैर्यपूर्वक झेलते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करते रहे। प्रभु का ध्यान उत्तरोत्तर उत्कट और आस्था उच्चतर होती चली गयी। अन्ततः सहस्राम्र उद्यान में एक दिन आपने क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया। मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को वे शुक्लध्यान में लीन थे कि घातिकर्म क्षीण हो गये और भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

प्रथम धर्मदेशना

प्रभु के केवली बन जाने पर समवसरण की रचना हुई। अचिन्त्य प्रभावयुक्त और पुण्योदय से युक्त थी—भगवान की प्रथम देशना, जिससे लाभान्वित होने हेतु सुरनर ही नहीं अनेक पशु-पक्षी भी उपस्थित हो गये थे। जीव मैत्री का सृजन करने वाले उनके अद्भुत चमत्कारी व्यक्तित्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मोर और सर्प और नेवले, सिंह और हरिणादि सब वैर और हिंसा-वृत्ति को विस्मृत कर एक साथ में एकत्र बैठे थे—प्रभु की देशना सुनने।

भगवान ने अपनी इस प्रथम देशना मे सर्वजनहिताय दृष्टि से मुक्ति-मार्ग सुझाया, उस पर यात्रा की क्षमता विकसित करने वाले साधनो की व्याख्या की। आत्मा की अजस्र यात्रा का विवेचन करते हुए प्रभु ने कहा कि आत्मा अनादि काल से कर्म के जटिलतर पाशो मे आबद्ध रहता है। कर्म के निश्चित फल भी होते है और वे आत्मा को ही भोगने पडते है। इन भावी कुफलो को जीव ध्यान मे ही नही रखता और उल्टे-सीधे कर्म मे व्यस्त रहता है। उसकी दृष्टि तो कर्मों के तात्कालिक सुखद स्वरूप पर ही रहती है—जो छलावा है, प्रवचना है। वह अधिक से अधिक राग-द्वेष, काम-मोहादि मे धँसता चला जाता है और भावी अशुभ को प्रबलतर बनाता जाता है। यदि इन अशुभ कर्मों से विमुख रहते हुए वह धर्म का आचरण करे, चित्त को उत्कर्ष दे, तो परम शुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है—मुक्ति उसके लिए सुलभ हो जाती है।

हजारो लाखो नर-नारी इस देशना से प्रबुद्ध हुए, उनका आत्मा जागृत हो गया और उन्हे मोक्ष अर्जित करने का लगाव हो गया। हजारो-लाखो गृहस्थो ने ससार त्याग दिया और मुनि जीवन जीने लगे। जो ऐसा न भी कर सके, ऐसे अनेक लोगो ने १२ व्रत धारण किये। प्रभु ने बड़े व्यापक पैमाने पर जनता का मगल किया। उस काल मे एक परम विद्वान पण्डित थे, जिनका नाम वराह था। वराह दीक्षित होकर भगवान के प्रथम गणधर बने और प्रभु के पावन सन्देश का प्रसारण करने लगे। भगवान की इस प्रथम देशना मे ही चार तीर्थों की स्थापना हो गयी थी। इसी आधार पर वे भावतीर्थ कहलाये थे।

परिनिर्वाण

भगवान सुविधिनाथ स्वामी को जब अपना अन्त समय निकट ही लगने लगा तो वे चरम साधना हेतु सम्मेत शिखर पर पहुँचे और एक मास का अनशन प्रारम्भ किया। प्रभु का अनुसरण उसी स्थल पर एक हजार मुनि भी कर रहे थे। अन्तत कर्मों का सर्वथा क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र मे प्रभु ने दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

विशेष

प्रागैतिहासकारो का व्यक्तव्य है कि भगवान सुविधिनाथ और आगामी अर्थात् १०वें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ के प्रादुर्भाव के मध्य की अवधि धर्मतीर्थ की दृष्टि मे बडी शिथिल रही। यह 'तीर्थ विच्छेद काल' कहलाता है। इस काल मे जनता धर्मच्युत होने लगी थी। श्रावकगण मनमाने ढंग मे दान आदि धर्म का उपदेश देने लगे। 'मिथ्या' का प्रचार प्रबलतर हो गया था। कदाचित् यही काल ब्राह्मण-सस्कृति के प्रसार का समय रहा था।

धर्म-परिवार

गणधर	८८
केवली	७,५००

मन पर्यवज्ञानी	७,५००
अवधिज्ञानी	८,४००
चौदह पूर्वधारी	१,५००
वैक्रियलब्धिधारी	१३,०००
वादी	६,०००
साधु	२,००,०००
साध्वी	१,२०,०००
श्रावक	२,२९,०००
श्राविका	४,७२,०००

□□

चौदह शुभ स्वप्न—तीर्थंकर का जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता चौदह शुभ स्वप्न देखती है—

१ गज	६ चन्द्र	११ क्षीर समुद्र
२ वृषभ	७ सूर्य	१२ देव विमान
३ सिंह	८ ध्वजा	१३ रत्न राशि
४ लक्ष्मी	९ कुंभ कलश	१४ निर्धूम अग्नि शिखा
५ पुष्प माला	१० पद्म सरोवर	

—कल्पसूत्र सूत्र ३३

10

भगवान शीतलनाथ

(चिन्ह—*श्रीवत्स*)

नौवें तीर्थंकर भगवान सुविधिनाथ के पश्चात् धर्मतीर्थ की दृष्टि से विकट समय रहा। इसकी समाप्ति पर भगवान शीतलनाथ स्वामी का जन्म १०वें तीर्थंकर के रूप मे हुआ।

पूर्वजन्म

प्राचीन काल मे सुसीमा नगरी नामक एक राज्य था, जहाँ के नृपति महाराज पद्मोत्तर थे। राजा ने सुदीर्घकाल तक प्रजा-पालन का कार्य न्यायशीलता के साथ किया। अन्तत उनके मन मे विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ और आचार्य त्रिस्ताघ के आश्रय मे उन्होंने सयम स्वीकार कर लिया। अनेकानेक उत्कृष्ट कोटि के तप और साधनाओ का प्रतिफल उन्हे प्राप्त हुआ और उन्होने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। उस देह के अवसान पर उनके जीव को प्राणत स्वर्ग मे बीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप मे स्थान मिला।

जन्म-वश

एक और राज्य उन दिनो था—भद्दिलपुर, जो धर्माचारी राजा एव प्रजा के लिए प्रसिद्ध था। महाराजा दृढरथ वहाँ के भूपति थे, जिनकी महारानी का नाम नन्दा देवी था। महाराजा दृढरथ वात्सल्य-भाव के साथ प्रजा का पालन करते थे। दीन-हीनो की सुख-सुविधा के लिए वे सदा सचेष्ट रहा करते थे। राज्य मे स्थल-स्थल पर सचालित भोजनशालाएँ एव दानशालाएँ इसकी प्रमाण थी। प्रजा भी राजा के आचरण को ही अपनाती थी और अपनी करुणाभावना तथा दानप्रियता के लिए सुख्यात थी।

वैशाख कृष्णा षष्ठी का दिन था और पूर्वाषाढा नक्षत्र का शुभ योग—प्राणत स्वर्ग से पद्मोत्तर का जीव निकलकर रानीनन्दा देवी के गर्भ मे स्थित हुआ। महापुरुषो की माताओ की भाँति ही उसने भी १४ दिव्य स्वप्नो का दर्शन किया। भ्रमित सी माता इन स्वप्नो के प्रभाव से अपरिचित होने के कारण आश्चर्यचकित रह गयी। जिज्ञासावश उसने महाराज से इस प्रश्न की चर्चा की। जब महाराज से रानी को ज्ञात हुआ कि ये स्वप्न उसके लिए जगत् का मगल करने वाले महापुरुष की जननी होने का सकेत करते हैं, तो वह हर्ष-विभोर हो गयी। यथासमय गर्भकाल की सम्पूर्ति पर महारानी ने एक अति तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया। सारे जगत् मे अपूर्व

अपने साधक जीवन मे प्रभु ने घोर तपस्याएँ की। मौनव्रत का दृढतापूर्वक पालन करते हुए उन्होने ग्रामानुग्राम विहार किया और सर्वथा एकाकी रहे। ३ माह तक वे इस प्रकार उग्र तपस्या मे लीन रहे, भाँति-भाँति के परीषहो को धैर्य और शान्ति के साथ सहन किया एव छद्मस्थावस्था का काल नितान्त आत्म-साधना मे व्यतीत किया।

एक दिन प्रभु शीतलनाथ का आगमन पुन उसी सहस्राम्रवन मे हुआ और वे पीपल के वृक्ष तले परम शुक्लध्यान मे लीन हो गये। इस प्रकार उन्होने ज्ञानावरण आदि घाती कर्मों का समग्रत विनाश कर पूर्वाषाढा नक्षत्र के पावन पलो मे पौष कृष्णा चतुर्दशी को प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली।

प्रथम देशना

केवली प्रभु के विशाल दिव्य समवसरण की रचना हुई। भगवान की धर्म-देशना के अमृत का पान करने के पवित्र प्रयोजन से असख्य नर-नारी और देवतागण उपस्थित हुए। भगवान शीतलनाथ ने अपनी इस प्रथम देशना मे मोक्ष-प्राप्ति के एक मात्र मार्ग 'सवर' की स्पष्ट समीक्षा की और ससार के भौतिक एव नश्वर पदार्थों के प्रति आसक्ति के भाव को मनुष्य के दु खो का मूल कारण बताया। प्रभु ने उपदेश दिया कि आत्मा का यह जन्म-मरण-परिचक्र पापकर्मों के कारण ही चलता है। यदि मनुष्य सवर को अपना ले तो यह चक्र सुगमता से स्थगित किया जा सकता है। मनोविकारो पर नियन्त्रण ही सवर है। क्षमा की साधना से क्रोध का सवर हो जाता है। विनय और नम्रता अहकार को समाप्त कर देती है। पूर्णत सवर स्थिति को प्राप्त कर लेने पर आत्मा को विशुद्धता की अवस्था मिल जाती है और मुक्ति सुलभ हो जाती है। भगवान के उपदेश का सार आचार्य हेमचन्द्र की भाषा मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

"आस्रवो भव हेतु' स्याद् सवरो मोक्षकारणम्।"

अर्थात्—आस्रव ससार का और सवर मोक्ष का कारण है। इस प्रेरक देशना से उद्बोधित होकर सहस्र-सहस्र नर-नारी दीक्षित होकर मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हुए। भगवान ने चतुर्विध सघ स्थापित किया और उन्होने भावतीर्थंकर होने का गौरव प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

भगवान ने विस्तृत क्षेत्रो के असख्य-असख्य जनो को अपने उपदेशो से लाभान्वित किया एव अन्तकाल समीप आने पर आपने एक मास का अनशन प्रारम्भ किया। एक हजार अन्य मुनिजनो ने भगवान का अनुसरण किया। बैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे भगवान ने समस्त कर्मों को क्षीण कर दिया और वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये, उन्हे निर्वाणपद प्राप्त हो गया।

धर्म-परिवार

गणधर	८१
केवली	७,०००
मनःपर्यवज्ञानी	७,५००
अवधिज्ञानी	७,२००
चौदह पूर्वधारी	१,४००
वैक्रियलब्धिधारी	१२,०००
वादी	५,८००
साधु	१,००,०००
साध्वी	१,०६,०००
श्रावक	२,८६,०००
श्राविका	४,५८,०००

□□

11

भगवान श्रेयांसनाथ

(चिन्ह—गेंडा)

तीर्थंकर परम्परा मे भगवान श्रेयासनाथ स्वामी का ग्यारहवाँ स्थान है। अस्थायी और नश्वर सासारिक सुखोपभोग के छलावे मे भटकी मानवता को भगवान ने अक्षय आनन्द के उद्गम, श्रेय मार्ग पर आरूढ कर उसे गतिशील बना दिया था। श्रेयासनाथ नाम को कैसा चरितार्थ कर दिखाया था प्रभु ने !

पूर्व जन्म

भगवान श्रेयासनाथ स्वामी की विशद् उपलब्धियो के आधार स्वरूप उनके पूर्वजन्मो के सुसस्कार-बडे ही व्यापक थे। पुष्करवर द्वीपार्द्ध की क्षेमा नगरी के महाराजा नलिनीगुल्म के गृह मे ही भगवान का जीव पूर्वभव मे रहा। महाराज नलिनी गुल्म वर्षों तक नीतिपूर्वक प्रजापालन करते रहे और अन्तत आत्मप्रेरणा से ही उन्होने राज्य, परिवार, धन-वैभव सब कुछ त्याग कर सयम ग्रहण कर लिया। उन्होने ऋषि वज्रदत्त से दीक्षा ली और अपनी साधना तथा उग्र तपो के बल पर कर्मों का क्षय किया। महाराजा नलिनीगुल्म का जीव महाशुक्रकल्प मे ऋद्धिमान देव बना।

जन्म-वश

महाराजा विष्णु सिंहपुरी नगरी मे राज्य करते थे। उनकी धर्मपत्नी रानी विष्णुदेवी अत्यन्त शीलवती थी। यही राज-दम्पत्ति भगवान श्रेयासनाथ के अभिभावक थे। श्रवण नक्षत्र मे ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी को नलिनीगुल्म का जीव महाशुक्रकल्प से च्यव कर रानी विष्णुदेवी के गर्भ मे स्थित हुआ। इतनी महान् आत्मा के गर्भ मे आने के कारण रानी द्वारा १४ दिव्य स्वप्नो का दर्शन स्वाभाविक ही था। स्वप्नो के भावी फलो से अवगत होकर माता के मन मे हर्ष का ज्वार ही उमड आया। यथा-समय रानी विष्णुदेवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। वह शुभ घडी थी—भाद्रपद कृष्णा द्वादशी की। भगवान के जन्म से ससार की उग्रता समाप्त हो गयी और सर्वत्र सुखद शान्ति का साम्राज्य फैल गया। बालक अति तेजस्वी था, मानो व्योम-सीमा से बाल रवि उदित हुआ हो। उसके शारीरिक शुभलक्षणो से उसकी भावी महानता का स्पष्ट सकेत मिला करता था। इस बालक का माता के गर्भ मे प्रवेश होते ही सारे राज्य मे नीतिशीलता, विवेक और धर्म-प्रवृत्ति प्रबल हो गयी थी। इन प्रभावो के आधार पर युवराज का नाम श्रेयासकुमार रखा गया। वस्तुत इनके जन्म से सारे देश का कल्याण (श्रेय) हुआ था।

गृहस्थ-जीवन

पिता महाराज विष्णु के अत्याग्रहवश श्रेयांस कुमार ने योग्य, सुन्दरी नृप-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया। उचित वय प्राप्ति पर महाराजा विष्णु ने कुमार को राज्यारूढ़ कर उन्हें प्रजा-पालन का सेवाभार सौंप दिया एवं स्वयं साधना मार्ग पर अग्रसर हो गये। नृप के रूप में श्रेयांसकुमार ने अपने दायित्वों का पूर्णतः पालन किया। प्रजाजन के जीवन को दुःखों और कठिनाइयों से रक्षित रखना—मात्र यही उनके राजत्व का प्रयोजन था। सत्ता का उपभोग और विलासी-जीवन व्यतीत करना उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। उनके राज्य में प्रजा सर्व भांति प्रसन्न एवं सन्तुष्ट थी। जब श्रेयांसकुमार के पुत्र योग्य और दायित्व ग्रहण के लिए सक्षम हो गये तो उन्हें राज्य भार सौंपकर आत्म-कल्याण की साधना में रत हो जाने की कामना उन्होंने व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने इस निमित्त प्रभु से प्रार्थना की। राजा ने एक वर्ष तक अति उदारता के साथ दान-पुण्य किया। उनके द्वार से कोई याचक निराश नहीं लौटा।

दीक्षा एवं केवलज्ञान

वर्षीदान सम्पन्न कर महाराज श्रेयांस ने गृहत्याग कर अभिनिष्क्रमण किया और सहस्राम्रवन में पहुँचे। वहीं अशोकवृक्ष तले उन्होंने समस्त पापों से मुक्त होकर प्रव्रज्या धारण करली। उस समय वे बेले की तपस्या में थे। दीक्षा लेते ही मुनि श्रेयांसनाथ ने मौन-व्रत अंगीकार कर लिया। दूसरे दिन सिद्धार्थपुर नरेश महाराज नन्द के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

दीक्षोपरान्त दो मास तक भीषण उपसर्गों एवं परीषहों को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए अप्रमत्त मन से साधनारत प्रभु ने विभिन्न बस्तियों में विहार किया। माघ कृष्णा अमावस्या के दिन क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर उन्होंने मोह को पराजित कर दिया और शुक्लध्यान द्वारा समस्त घातीकर्मों का क्षय कर, षष्ठ तप का केवल-ज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

प्रथम देशना

[illegible] प्रभु ने देवों [illegible] प्रथम [illegible] देशना प्रदान की। प्रभु ने चतुर्विध धर्मसंघ स्थापित किया एवं भाव तीर्थंकर पद पर प्रतिष्ठित हुए।

धर्म प्रभाव

[illegible]

[illegible]

पोतनपुर उस समय की राजनीति का प्रसिद्ध केन्द्र था। अत्यन्त बलवान और पराक्रमी महाराजा त्रिपृष्ठ पोतनपुर के राजा थे जो प्रथम वासुदेव कहलाते है। भगवान जब नगर के उद्यान मे पहुँचे तो आगमन का सदेश लेकर वहाँ का माली राजा की सेवा मे उपस्थित हुआ। भगवान के पदार्पण की सूचना मात्र से त्रिपृष्ठ हर्ष-विभोर हो गया। उसने सदेशवाहक माली को १२ करोड ५० लाख मुद्राएँ पुरस्कार मे प्रदान की। अपने भ्राता बलदेव अचल के साथ राजा तुरत भगवान की वदना हेतु उद्यान मे पहुँचा। भगवान श्रेयासनाथ स्वामी की उत्प्रेरक वाणी से प्रभावित होकर दोनो बधुओ ने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया।

यहाँ वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ और प्रथम बलदेव अचल का सक्षिप्त परिचय भी आवश्यक प्रतीत होता है। त्रिपृष्ठ राजा प्रजापति का पराक्रमी पुत्र था। इस काल के प्रथम प्रतिवासुदेव के रूप मे राजा अश्वग्रीव था। उसे भविष्यवाणी द्वारा ज्ञात हुआ कि उसका सहारक कही वासुदेव रूप मे जन्म ले चुका है, तो वह भयातुर एव चिंतित रहने लगा। विविध प्रकार से वह अपने शत्रु की शोध करने लगा। इधर प्रजापति-पुत्र त्रिपृष्ठ की पराक्रम गाथाओ को सुनकर उसे उस पर सदेह हुआ, जिसकी एक घटना से पुष्टि भी हो गई। अश्वग्रीव के राज्य मे किसी शालि के खेतो मे हिंस्र वनराज का आतक था। प्रजा नित्य-प्रति की जनहानि से सदा भयभीत रहती थी। प्रजापति को इस विघ्न का विनाश करने के लिए अश्वग्रीव की ओर से निवेदन किया गया। दोनो कुमारो ने माँद मे प्रवेश कर सोये सिंह को ललकारा और त्रिपृष्ठ ने क्रुद्ध सिंह के मुख को जीर्ण वस्त्र की भाँति चीर कर उसका प्राणात कर दिया। इस पराक्रम प्रसग से अश्वग्रीव को विश्वास हो गया कि त्रिपृष्ठ ही मेरा सहारक होगा और वह छल-बल से उसे समाप्त करने की योजनाएँ बनाने लगा। उसने एक सुन्दर उपक्रम यह किया कि शूर-वीरता के लिए दोनो बधुओ को सम्मानित करने के लिए उन्हे अपने राज्य मे निमन्त्रित किया। इस बहाने वह दोनो को उनकी असावधानी मे समाप्त कर देना चाहता था, किन्तु त्रिपृष्ठ ने यह कहकर निमत्रण अस्वीकार कर दिया कि जो एक सिंह को नही मार सका, उस राजा से सम्मानित होने मे हमारा सम्मान नही बढता।[1]

---

१ त्रिषष्टिशलाका० मे यहाँ दूसरी भी घटना दी गई है। वह घटना इस प्रकार है—कुमार त्रिपृष्ठ का विवाह विद्याधर ज्वलनजटी की पुत्री स्वयप्रभा से हुआ था। स्वयप्रभा अनुपम सुन्दरी थी। पोतनपुर नरेश प्रजापति और विद्याधर ज्वलन-जटी दोनो ही प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के अधीन थे। उसने त्रिपृष्ठ की पत्नी स्वयप्रभा को अपने लिए मागा क्योकि अश्वग्रीव अपने राज्य के सभी उत्तम रत्नो को अपने लिए ही उपभोग्य समझता था।

त्रिपृष्ठ को अश्वग्रीव की माँग अनुचित लगी। उन्होने उसके दूत का तिरस्कार भी कर दिया और स्वयप्रभा को देने से स्पष्ट इन्कार।

प्रभु जन-जन को कल्याण का मार्ग बताते और उस मार्ग को अपनाने की प्रेरणा देते हुए लगभग २१ लाख पूर्व वर्ष तक विचरण करते रहे।

परिनिर्वाण

अन्तत अपने जीवन की साध्य वेला को निकट पहुँची जानकर भगवान ने १००० मुनियो के साथ अनशन कर लिया और ध्यानस्थ हो गये। शुक्लध्यान की चरम दशा मे पहुँचकर श्रावण कृष्णा तृतीया के धनिष्ठा नक्षत्र मे भगवान सकल कर्मों का क्षयकर सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	७६
केवली	६,५००
मन पर्यवज्ञानी	६,०००
अवधिज्ञानी	६,०००
चौदह पूर्वधारी	१,३००
वैक्रियलब्धिधारी	११,०००
वादी	५,०००
साधु	८४,०००
साध्वी	१,०३,०००
श्रावक	२,७९,०००
श्राविका	४,४८,०००

□□

कहलाएगी। फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र मे ही प्रसन्नचित्त रानी ने पुत्र श्रेष्ठ को जन्म दिया।

कुमार वासुपूज्य के जन्म से राज्य भर मे अतिशय हर्ष व्याप्त हो गया। पिता महाराजा वसुपूज्य ने १२ दिन का उत्सव आयोजित किया और नागरिक जनो ने महाराजा की सेवा मे नाना प्रकार की भेंट प्रस्तुत कर हार्दिक उल्लास को व्यक्त किया। बालक वासुपूज्य दिव्य सौन्दर्य से सम्पन्न था। उसकी देह से कान्ति विकीर्ण होती थी। ममता और आनन्द, वैभव और सुख के वातावरण मे बालक उत्तरोत्तर विकसित होता रहा। विवाह के योग्य आयु होने तक वासुपूज्य मे पराक्रम और बलिष्ठता के साथ-साथ रूप और माधुर्य भी अपरिमित रूप मे विकसित हो चुका था। प्रतिष्ठित नरेश अपनी कन्याओ का विवाह कुमार वासुपूज्य के साथ करने को लालायित रहते थे। अनेक प्रस्ताव आये। परमलावण्यवती राजकुमारियो के चित्रो का अम्बार-सा लग गया। सभी ओर एक अपूर्व उत्साह और उमग भरा वातावरण देखकर कुमार वासुपूज्य ने अपने माता-पिता के विचार का अनुमान लगा लिया, किन्तु कुमार का संकल्प तो अविवाहित रूप मे ही दीक्षा ग्रहण करने का था। क्षणभर के लिए तो इस विपरीत परिस्थिति को देखकर वे विचलित हो गये। माता की इस आकाक्षा से भी वे परिचित थे कि वे अपने पुत्र के लिए सुयोग्य बहू लाना चाहती है। यह भी जानते थे कि माता की यह साध पूर्ण न होने पर उन्हे कितनी वेदना होगी। पिता की यह मनोकामना भी अपूर्ण ही रहने को थी कि युवराज शासन सूत्र संभाल कर प्रजापालन करें। इस कारण भी कुमार वासुपूज्य के मन मे एक विशेष प्रकार का द्वन्द्व मचा हुआ था तथापि वे कौमार्य व्रत पर अडिग भाव से टिके रहे।

यह प्रसग खुल कर सामने आया। पिता ने कोमलता के साथ कहा—युवराज! हम तुम्हारा विवाह तुम्हारी दृष्टि मे उपयुक्त कन्या के साथ कर देना चाहते है और तब तुम्हे शासन का भार सौंप कर हम आत्म-कल्याण हेतु साधना-मार्ग को अपनाना चाहते हैं। तुम जानते हो अब शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना ही हमारा भावी लक्ष्य है।

धीर-गभीर राजकुमार ने विनयपूर्वक उत्तर मे निवेदन किया कि जिस शान्ति की कामना आपको है, मैं भी उसी का अभिलाषी हूँ। इस विषय मे किसी आयु-विशेष का विधान भी नही है कि वृद्धावस्था मे ही व्यक्ति शान्ति और मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करे, इससे पूर्व नही। आप जिस सासारिक जाल से मुक्त होना चाहते हैं, उसी मे मुझे क्यो ग्रस्त करना चाहते है? और जब मुझे सासारिक विषयो से विरक्त होना ही है, तो फिर जान-बूझकर मैं पहले उसमे पड़ूँ ही क्यो?

आपने पुत्र के दृष्टिकोण से अवगत होकर माता-पिता के हृदय को आघात लगा। वे अवाक् से रह गये। गृहस्थाश्रम के योग्य आयु मे कुमार क्यो त्यागी हो

शुक्लध्यान के द्वितीय चरण मे पहुँच कर प्रभु ने चार घातिक कर्मों का क्षय कर दिया और उपवास की अवस्था मे उन्होने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। अब प्रभु केवली हो गये थे।

प्रथम धर्म देशना

भगवान वासुपूज्य स्वामी ने अपनी प्रथम देशना मे अपार जन-समुदाय को मोक्ष का मार्ग समझाया। प्रभु ने अपनी इस देशना मे दशविध धर्म की व्याख्या की और चतुर्विध सघ स्थापित किया। वे भाव तीर्थंकर की अनुपम गरिमा से विभूषित हुए थे।

धर्म-प्रभाव

भगवान वासुपूज्य स्वामी का प्रभाव सामान्य जनता से लेकर राजघरानो तक समानता के साथ व्याप्त था। वे जन-जन का मगल करते हुए विचरण करते रहे। इसी प्रकार अपने विहार के दौरान एक समय वे द्वारिका पहुँच गये। वहाँ उस समय द्वितीय वासुदेव द्विपृष्ठ का राज्य था। कुछ ही समय पूर्व की चर्चा है कि द्विपृष्ठ का घोर शत्रु प्रतिवासुदेव तारक नामक एक अन्य राजा था, जो द्विपृष्ट की प्रजा को कष्ट दिया करता था। दोनो के मन मे एक दूसरे के प्रति अतिशय घृणा थी और वे परस्पर प्राणो के ग्राहक बने हुए थे। ये परिस्थितियाँ अपनी चरमावस्था मे युद्ध के रूप मे परिणत हो गयी और प्रतिवासुदेव तारक द्वितीय वासुदेव द्विपृष्ठ के हाथो मारा गया था।

भगवान वासुपूज्य के आगमन की शुभ सूचना पाकर द्विपृष्ठ बहुत प्रसन्न हुआ। उसके हर्षातिरेक का आभास इस तथ्य से भी लग सकता है कि प्रभु के पदार्पण की सूचना लाने वाले को नरेश ने १२॥ करोड मुद्राओ का पुरस्कार प्रदान किया था। अत्यन्त भक्ति भाव के साथ द्विपृष्ठ सपरिवार प्रभु की चरण-वन्दना करने को पहुँचा। भगवान ने उन्हे मनोविकारो को जीतने और क्षमाशील बनने की महती देशना दी। राजा द्विपृष्ठ के मन मे ज्ञान की रश्मियाँ प्रसरित होने लगी। उसने जिज्ञासावश भगवान को तारक के साथ का अपना सारा प्रसग सुनाते हुए प्रश्न किया कि भगवान! क्या हम दोनो के मध्य पूर्वभवो का कोई वैर था?

भगवान ने गम्भीरतापूर्वक 'हाँ' के आशय मे मस्तक हिलाया और इन दोनो के पूर्व जन्म की कथा सुनाने लगे। पर्वत नाम का एक राजा था, जो अपने नीति-निर्वाह और प्रजा-पालन के लिए तो प्रसिद्ध था, किन्तु वह अधिक शक्तिशाली न था। इसके विपरीत एक अन्य राजा विन्ध्यशक्ति अत्यधिक शक्तिशाली तो था, किन्तु वह दुष्ट प्रवृत्तियो वाला था। पर्वत के राज्य मे अनुपम लावण्यवती, सगीत-नृत्य-कलाओ मे निपुण एक सुन्दरी गुणमजरी रहा करती थी, जिस पर मुग्ध होकर विन्ध्यशक्ति ने पर्वत से उसकी माँग की। इस पर पर्वत ने स्वय को कुछ अपमानित सा अनुभव किया। विन्ध्यशक्ति की कामान्धता और अनुचित व्यवहार के कारण पर्वत ने

13

भगवान विमलनाथ

(चिन्ह—शूकर)

भगवान विमलनाथ तेरहवे तीर्थंकर हुए है ।

"जिसके निकट देवगण विद्यमान है, ऐसे उत्तम देदीप्यमान सिंहासन पर विराजित हे विमलनाथ ! जो आपकी सेवा करते हैं, वे देव-प्रार्थनीय, निर्मल और प्रकाशमान सुख को प्राप्त करते है ।"

पूर्वजन्म

धातकीखण्ड के अन्तर्गत महापुरी नगरी नामक एक राज्य था । महाराजा पद्मसेन वहाँ के यशस्वी नरेश हुए है । वे अत्यन्त धर्मपरायण एव प्रजावत्सल राजा थे । अन्त· प्रेरणा से वे विरक्त हो गये और सर्वगुप्त आचार्य से उन्होने दीक्षा प्राप्त कर ली । प्रव्रजित होकर पद्मसेन ने जिनशासन की महत्त्वपूर्ण सेवा की थी । उन्होने कठोर सयमाराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था । आयुष्य के पूर्ण होने पर समाधिभाव मे देहत्याग कर वे सहस्रार कल्प मे ऋद्धिमान देव बने । उन्ही का जीव भगवान विमलनाथ के रूप मे उत्पन्न हुआ था ।

जन्मवंश

कपिलपुर के राजा कृतवर्मा इनके पिता और रानी श्यामादेवी इनकी माता थी । सहस्रार कल्प से निकल कर पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तरा-भाद्रपद नक्षत्र की शुभ घडी मे माता के गर्भ मे स्थित हुआ । गर्भ-धारण की रात्रि मे ही माता रानी श्यामादेवी ने शुभसूचक १४ दिव्यस्वप्न देखे और फल जानकर अत्यन्त गर्वित एव हर्षित हो उठी । वह सावधानीपूर्वक गर्भ को पोषित करने लगी और यथासमय उसने स्वर्णकान्ति पूर्ण देहवाले एक तेजस्वी और सुन्दर पुत्र को जन्म दिया । वह शुभ घडी माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे चन्द्र के योग की थी ।

उल्लसित प्रजाजन ने राज्य भर मे और देवो ने सुमेरु पर्वत पर उत्साह के साथ जन्मोत्सव आयोजित किया । गर्भ की अवधि मे माता तन-मन से निर्मल बनी रही । इसे बालक के गर्भस्थ होने का प्रभाव मानते हुए राजा कृतवर्मा ने उनका नाम विमलनाथ रखा ।

गृहस्थो ने भी गृहस्थी का त्याग किये बिना भी धर्म की साधना प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार भगवान ने चतुर्विध सघ की स्थापना की और तेरहवें तीर्थंकर बने।

धर्म-प्रभाव

केवली बनकर भगवान विमलनाथ ने पुन जनपद मे विहार आरम्भ कर दिया। अपनी प्रभावपूर्ण देशनाओ द्वारा असख्य जनो के उद्धार के महान् अभियान मे प्रभु को व्यापक सफलता की उपलब्धि हुई।

विचरण करते-करते प्रभु एक बार द्वारिका पहुँचे। समवसरण का आयोजन हुआ। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर तत्कालीन द्वारिका नरेश स्वयभू वासुदेव अत्यन्त हर्षित हुआ और सन्देशवाहक को साढ़े बारह करोड रौप्य मुद्राओ से पुरस्कृत किया। भगवान की अमृत वाणी का श्रवण करने राजा सपरिवार आया और भगवान की चरण वन्दना की। स्वयभू वासुदेव ने भगवान के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया कि प्रतिवासुदेव मेरक राजा के प्रति मेरे मन मे द्वेष का भाव क्यो था ? मैं उसके पराक्रम को सहन कर ही नही सका और प्रचण्ड युद्ध मे उसे मौत के घाट उतार कर ही मैं अपने मन को शान्ति दे सका—इसका क्या कारण है ? इस द्वेष का आधार क्या था ? प्रभु, कृपा पूर्वक मुझे इसकी जानकारी प्रदान कीजिये।

भगवान ने अपनी शीतल वाणी मे इसका कारण प्रकट करते हुए कहा कि तुम दोनो मे यह कट्टर शत्रुता का भाव पूर्वजन्म से था। भगवान ने सारी स्थिति भी स्पष्ट की—

किसी नगर मे धनमित्र नामक राजा राज्य करता था, जिसका एक परम मित्र था—बलि। बलि भी कभी एक छोटे से राज्य का स्वामी था, किन्तु वह राज्य उसके हाथ से निकल चुका था। धनमित्र सहृदय शासक था। उसने विपन्नता की घडी मे बलि का साथ न छोडा और सम्मानपूर्वक अपने राज्य मे उसे आश्रय दिया। यह बलि बडा प्रपची और कुत्सित मनोवृत्ति का था। जब दोनो मित्र जुआ खेल रहे थे तो एक कोमल स्थिति पर लाकर बलि ने धनमित्र को उत्तेजित कर उसका सारा राज्य दांव पर लगवा दिया। परिणाम तो निश्चित था ही। धनमित्र के हाथ से उसका राज्य निकल गया।

धनमित्र को उसके द्वारा किये गये उपकार का मूल्य जो मिला, उससे वह तिलमिला उठा। उसका मन प्रतिशोध की अग्नि मे धधकने लगा। सुयोग से किन्ही आचार्य के उपदेश से प्रेरित होकर वह सयमी बन गया, भिक्षु बन गया, किन्तु प्रतिशोध की वह आग अब भी ज्यो की त्यो थी। उसने सकल्प किया कि मेरी भावना का तनिक भी फल यदि मिला, तो मैं अगले जन्म मे बलि से बदला अवश्य लूंगा।

इधर बलि ने भी तपस्याएँ की। फलत दोनो को स्वर्ग की प्राप्ति हुई और अवधि पूर्ण होने पर तुम्हारे रूप मे धनमित्र का और मेरक के रूप मे बलि का जीव

14

भगवान अनन्तनाथ

(चिन्ह—*बाज*)

भगवान विमलनाथ के पश्चात् १४वें तीर्थंकर भगवान अनन्तनाथ हुए है।

"हे स्याद्वादियो के अधिपति अनन्त जिन! आप पाप, मोह, वैर और अन्त से रहित है। लोभवर्जित, दम्भरहित तथा प्रशस्त तर्क वाले भी हैं। आपकी सेवा करने वालो को आप पापरहित और सच्चरित्र बना देते है।"

पूर्वजन्म

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वी भाग मे ऐरावत क्षेत्र था जिसके अन्तर्गत अरिष्टा नाम की एक नगरी थी। पद्मरथ महाराजा यही के नरेश थे जो भगवान अनन्तनाथ के जीव के पूर्व धारक थे। राजा पद्मरथ शूरवीरो और पराक्रमियो की पक्ति मे अग्र-गण्य समझे जाते थे और उन्होने अनेक राजाओ को परास्त कर अपने अधीन बना रखा था। अपार वैभव और विशाल राज्य-सत्ता के वे स्वामी थे, किन्तु उनका मन इन विषयो मे कभी भी रमा नही था। मोक्ष की तुलना मे ये उपलब्धियाँ उन्हे तुच्छ प्रतीत होती थी। वे उमी सच्ची सम्पदा को प्राप्त करने के प्रबल अभिलाषी थे। अत एक दिन इन समस्त सासारिक विषयो को त्याग कर पद्मरथ वीतरागी हो गये और गुरु चित्तरक्ष के पास सयम ग्रहण कर प्रव्रजित हो गये। सयम, अर्हन्त-सिद्ध की भक्ति व अन्य साधनाओ के परिणाम-रूप मे उन्होने तीर्थंकर नाम-कर्म अर्जित कर लिया। इन्होने शुभ ध्यानावस्था मे देह-त्याग किया और पुष्पोत्तर विमान मे बीस सागर की स्थिति वाले देव बने।

जन्म-वंश

सरयू नदी के तट पर पवित्र अयोध्या नगरी स्थित है। इक्ष्वाकुवशीय राजा सिंहसेन यहाँ शासन करते थे। महाराज सिंहसेन की धर्मपत्नी का नाम रानी सुयशा था जो वस्तुत पितृकुल और पति-कुल दोनो के यश की अभिवृद्धि करती थी। इसी राज-दम्पति की सन्तान भगवान अनन्तनाथ थे। श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र मे पद्मनाथ के जीव का च्यवन हुआ और वह स्वर्ग से प्रस्थान कर माता सुयशारानी के गर्भ मे समाया। अन्य तीर्थंकरो की माताओ की ही भाँति रानी सुयशादेवी ने भी

दिन वर्द्धमान नगराधिपति महाराज विजय के आतिथ्य मे भगवान का दीक्षोपगत प्रथम पारणा हुआ।

तीन वर्ष तक भगवान अनतनाथ ने नाना भाँति के कठोर तप व साधनाएँ की और जनपद मे सतत् रूप से विहार करते रहे। अन्तत उनका आगमन अयोध्या नगरी के उसी सहस्राम्रवन मे हुआ, वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे वे ध्यानस्थ हो गये। वह वैशाख कृष्णा चतुर्दशी का दिन था जब रेवती नक्षत्र मे प्रभु ने ४ घातिक कर्मो का क्षय कर अक्षय केवलज्ञान-केवलदर्शन की दुर्लभ उपलब्धि को सुलभ कर लिया। अब भगवान केवली हो गये थे।

धर्मदेशना

देवताओ ने भगवान अनन्तनाथ द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति मे अवगत होकर अपार हर्ष व्यक्त किया और केवलज्ञानोत्सव मनाया। समवसरण की रचना हुई, जिसमे भगवान की देशना से प्रतिबोधित होने को द्वादश प्रकार की परिषदे एकत्रित हुई। चतुर्विध सघ स्थापित कर भगवान भाव तीर्थंकर कहलाये।

तत्कालीन वासुदेव पुरुषोत्तम द्वारिका का नरेश था। भगवान समवसरण के पश्चात् विहार करते हुए जब द्वारिका पधारे, तो उनके नगर के उद्यान मे पहुँचने की सूचना पाकर वासुदेव पुरुषोत्तम ने तत्काल वही खड़े होकर प्रभु को सभक्ति प्रणाम किया और तत्पश्चात अपने अग्रज सुप्रभ बलदेव के साथ भगवान की वन्दनार्थ उद्यान मे आया। प्रभु ने अपनी देशना मे समता और क्षमा का महत्त्व बडे प्रभावपूर्ण ढग से प्रकट किया था, जिसके श्रवण से वासुदेव के चित्त को अपूर्व शाति मिली। उसका मन ऐसी विशिष्ट दशा को प्राप्त हो गया था कि उसने सम्यक्त्व अगीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी कठोरता और क्रूरता नष्ट हो गयी और शासन-कार्य मे सौजन्य आगया, मृदुलता आ गयी। बलदेव सुप्रभ ने प्रथमत श्रावकधर्म स्वीकार किया और अन्त मे विरक्त होकर मुनिधर्म अगीकार किया और मुक्ति-पद की प्राप्ति की। यह प्रसग एक उदाहरण मात्र है। भगवान सुविशाल क्षेत्र मे सतत् रूप से विचरणशील रहकर जन-जन के उद्धार मे ही व्यस्त रहे।

परिनिर्वाण

अन्तिम समय मे भगवान अनन्तनाथ ने १००० साधुओ के साथ १ मास का अनशन आरभ किया। चैत्र शुक्ला पचमी को रेवती नक्षत्र के योग मे सकल कर्मो का क्षय कर भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी।

धर्म-परिवार

गणधर	५०
केवली	५,०००

15

भगवान धर्मनाथ

(चिन्ह—वज्र)

भगवान धर्मनाथ स्वामी पन्द्रहवे तीर्थंकर हुए है।

"हे भानुसुत धर्म जिनेश्वर! आप प्रधान धर्म से सम्पन्न तथा माया रहित है। आपका नाम-स्मरण ही प्राणियो को अत्यन्त मगल देने वाला है। आपकी प्रभा मेरु पर्वत के समान देदीप्यमान है, उत्तम लक्ष्मी से सम्पन्न है। अत मैं आपको प्रणाम करता हूँ।"

पूर्वजन्म

धातकीखण्ड का पूर्व विदेह क्षेत्र—उसमे बसा हुआ भद्दिलपुर राज्य। कभी इस राज्य के नरेश थे—महाराज दृढरथ जो शूर-वीर और महान् पराक्रमी थे। अपनी शक्ति से समीप के समस्त राज्यो को अपने अधीन कर महाराजा ने विशद् साम्राज्य की स्थापना करली थी। महाराज दृढरथ की अन्य और अद्वितीय विशेषता थी—'धर्म-प्रियता'। परम शक्तिवान होते हुए भी वे धर्म की आराधना मे कभी पीछे नही रहते थे। ससार के विषयो मे रहते हुए भी वे उनमे लिप्त नही थे। जागतिक ऐश्वर्य एव सुखो के असारता के अनुभव ने उन्हे शाश्वत आनन्द की खोज के लिए प्रेरित किया और एक दिन समस्त विषयो और वैभव को त्यागकर उन्होने चारित्र-धर्म स्वीकार कर लिया। इसके लिए उन्होने विमलवाहन मुनि का चरणाश्रय प्राप्त किया था। दृढ साधना एव कठोर तप के परिणामस्वरूप उन्होने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया था और आयुष्य पूर्ण होने पर वे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र रूप मे उत्पन्न हुए।

जन्म-वंश

वैजयन्त विमान मे सुखोपभोग की अवधि समाप्त होने पर मुनि दृढरथ के जीव ने मानवयोनि मे देहधारण की। रत्नपुर के शूरवीर नरेश महाराजा भानु इनके पिता और रानी सुव्रता इनकी माता थी। बैशाख शुक्ला सप्तमी को पुष्य नक्षत्र के शुभयोग मे माता सुव्रता के गर्भ मे मुनि दृढरथ का जीव स्थिर हुआ था। गर्भधारण की रात्रि मे ही रानी ने १४ दिव्यस्वप्नो का दर्शन किया जिनके शुभकारी प्रभाव को जानकर माता अत्यन्त हर्षित हुई। यथासमय गर्भावधि समाप्त हुई और माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र की मागलिक घडी मे माता ने एक तेजस्वी पुत्र को

अपने साधक जीवन मे भगवान ने कठोर तप किये। छद्मस्थचर्या मे वे २ वर्ष तक अनेक परीषहो को समभाव के साथ सहन करते हुए विचरण करते रहे और लौटकर अपने दीक्षा-स्थल प्रकाचन उद्यान मे आये। यहाँ दधिपर्ण वृक्ष के नीचे वे ध्यान मे लीन हो गये। शुक्लध्यान मे लगे भगवान ने क्षपक श्रेणी मे पहुँचकर ज्ञानावरणादि घातिककर्मों का क्षय कर लिया। यह शुभ दिवस था पौष शुक्ला पूर्णिमा का, जब भगवान धर्मनाथ स्वामी ने पुष्य नक्षत्र मे ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। अब केवली प्रभु धर्मनाथ अरिहन्त बन गये थे।

प्रथम देशना

भगवान के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने से जगत् भर मे प्रसन्नता का आलोक व्याप्त हो गया। देव व मनुष्यो के विशाल समुदाय को भगवान ने धर्मदेशना से प्रवुद्ध किया। अपनी इस प्रथम देशना मे भगवान ने आन्तरिक विकार-शत्रुओ से होने वाली हानियो से मनुष्यो को सचेत किया और प्रेरित किया कि जागतिक शत्रुओ से द्वन्द्व छोडकर इन भीतरी शत्रुओ से सघर्ष करो। इन्हे परास्त करने पर ही सच्चे सुख और शान्ति का लाभ होगा। सासारिक विपयो के अधीन रहकर मनुष्यो को अपने आत्मा की हानि नही करनी चाहिए। मानव अज्ञानवश भौतिक पदार्थों की साध मे लगा रहता है, जो वास्तव मे नश्वर है और दु.ख के कारण है। मानव-जीवन इन आसक्तियो के लिए नही है। इनसे विरक्त होकर सभी को आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये, जो परमानन्ददायक है।

प्रभु की मर्मस्पर्शिनी वाणी से हजारो नर-नारियो की सोयी आत्माएँ सजग हो गयी और उन्होने चारित्रधर्म स्वीकार किया। प्रभु ने चतुर्विध सघ स्थापित किया और वे भाव तीर्थंकर कहलाए।

प्रभावशीलता

केवली प्रभु ने लगभग ढाई लाख वर्षों की सुदीर्घ अवधि सतत विचरणशील रह कर व्यतीत की और असख्य नर-नारियो को उद्बोधित कर उन्हे आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया। भगवान के इस व्यापक अभियान का एक स्मरणीय अश पुरुषसिह वासुदेव के उद्धार से सबधित है।

भगवान विचरण करते-करते एक समय अश्वपुर पहुंचे और वहाँ के उद्यान मे विश्राम करने लगे। तत्कालीन वासुदेव पुरुषसिह इस राज्य का स्वामी था। इस समय का बलदेव सुदर्शन था। उद्यान कर्मचारी ने जब भगवान के आगमन का शुभ सन्देश वासुदेव पुरुषसिह को दिया, तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। आदर भाव के साथ उसने सिहासन से उठकर वही से प्रभु को नमन किया और सन्देश वाहक को पुरस्कृत किया। पुरुषसिह अपने भ्राता बलदेव सुदर्शन के साथ प्रभु की वन्दना और दर्शन हेतु उद्यान मे आया। भगवान के चरणो मे श्रद्धा के पुष्प समर्पित किये। भगवान की

अपने साधक जीवन मे भगवान ने कठोर तप किये । छद्मस्थचर्या मे वे २ वर्ष तक अनेक परीषहो को समभाव के साथ सहन करते हुए विचरण करते रहे और लौटकर अपने दीक्षा-स्थल प्रकाचन उद्यान मे आये । यहाँ दधिपर्ण वृक्ष के नीचे वे ध्यान मे लीन हो गये । शुक्लध्यान मे लगे भगवान ने क्षपक श्रेणी मे पहुँचकर ज्ञानावरणादि घातिककर्मों का क्षय कर लिया । यह शुभ दिवस था पौष शुक्ला पूर्णिमा का, जब भगवान धर्मनाथ स्वामी ने पुष्य नक्षत्र मे ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । अब केवली प्रभु धर्मनाथ अरिहन्त बन गये थे ।

प्रथम देशना

भगवान के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने से जगत् भर मे प्रसन्नता का आलोक व्याप्त हो गया । देव व मनुष्यो के विशाल समुदाय को भगवान ने धर्मदेशना से प्रबुद्ध किया । अपनी इस प्रथम देशना मे भगवान ने आन्तरिक विकार-शत्रुओ से होने वाली हानियो से मनुष्यो को सचेत किया और प्रेरित किया कि जागतिक शत्रुओ से द्वन्द्व छोडकर इन भीतरी शत्रुओ से सघर्ष करो । इन्हे परास्त करने पर ही सच्चे सुख और शान्ति का लाभ होगा । सासारिक विषयो के अधीन रहकर मनुष्यो को अपने आत्मा की हानि नही करनी चाहिए । मानव अज्ञानवश भौतिक पदार्थों की साध मे लगा रहता है, जो वास्तव मे नश्वर है और दु:ख के कारण है । मानव-जीवन इन आसक्तियो के लिए नही है । इनसे विरक्त होकर सभी को आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये, जो परमानन्ददायक है ।

प्रभु की मर्मस्पर्शिनी वाणी से हजारो नर-नारियो की सोयी आत्माएँ सजग हो गयी और उन्होने चारित्रधर्म स्वीकार किया । प्रभु ने चतुर्विध सघ स्थापित किया और वे भाव तीर्थंकर कहलाए ।

प्रभावशीलता

केवली प्रभु ने लगभग ढाई लाख वर्षों की सुदीर्घ अवधि सतत विचरणशील रह कर व्यतीत की और असख्य नर-नारियो को उद्बोधित कर उन्हे आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया । भगवान के इस व्यापक अभियान का एक स्मरणीय अश पुरुषसिंह वासुदेव के उद्धार से सबधित है ।

भगवान विचरण करते-करते एक समय अश्वपुर पहुंचे और वहाँ के उद्यान मे विश्राम करने लगे । तत्कालीन वासुदेव पुरुषसिंह इस राज्य का स्वामी था । इस समय का बलदेव सुदर्शन था । उद्यान कर्मचारी ने जब भगवान के आगमन का शुभ सन्देश वासुदेव पुरुषसिंह को दिया, तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ । आदर भाव के साथ उसने सिंहासन से उठकर वही से प्रभु को नमन किया और सन्देश वाहक को पुरस्कृत किया । पुरुषसिंह अपने भ्राता बलदेव सुदर्शन के साथ प्रभु की वन्दना और दर्शन हेतु उद्यान मे आया । भगवान के चरणो मे श्रद्धा के पुष्प समर्पित किये । भगवान की

दिव्य देशना से वासुदेव पुरुषसिंह को जागृति आयी और उसने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार बलदेव सुदर्शन ने श्रावकधर्म ग्रहण किया।

परिनिर्वाण

भगवान धर्मनाथ अपना निर्वाण-काल समीप अनुभव कर सम्मेतशिखर पहुंचे और ८०० मुनियो के साथ उन्होंने अनशन व्रत आरम्भ कर दिया। ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को पुष्य नक्षत्र मे समस्त कर्मों का क्षय कर भगवान ने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन गये। भगवान ने कुल दस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया था।

धर्म-परिवार

गणधर	४३
केवली	४,५००
मन पर्यवज्ञानी	४,५००
अवधिज्ञानी	३,६००
चौदह पूर्वधारी	९००
वैक्रियलब्धिधारी	७,०००
वादी	२,८००
साधु	६४,०००
साध्वी	६२,४००
श्रावक	२,४०,०००
श्राविका	४१३,०००

□□

अपने साधक जीवन मे भगवान ने कठोर तप किये। छद्मस्थचर्या मे वे २ वर्ष तक अनेक परीषहो को समभाव के साथ सहन करते हुए विचरण करते रहे और लौटकर अपने दीक्षा-स्थल प्रकाचन उद्यान मे आये। यहाँ दधिपर्ण वृक्ष के नीचे वे ध्यान मे लीन हो गये। शुक्लध्यान मे लगे भगवान ने क्षपक श्रेणी मे पहुँचकर ज्ञानावरणादि घातिककर्मों का क्षय कर लिया। यह शुभ दिवस था पौष शुक्ला पूर्णिमा का, जब भगवान धर्मनाथ स्वामी ने पुष्य नक्षत्र मे ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। अब केवली प्रभु धर्मनाथ अरिहन्त बन गये थे।

प्रथम देशना

भगवान के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने से जगत् भर मे प्रसन्नता का आलोक व्याप्त हो गया। देव व मनुष्यो के विशाल समुदाय को भगवान ने धर्मदेशना से प्रबुद्ध किया। अपनी इस प्रथम देशना मे भगवान ने आन्तरिक विकार-शत्रुओ से होने वाली हानियो से मनुष्यो को सचेत किया और प्रेरित किया कि जागतिक शत्रुओ से द्वन्द्व छोडकर इन भीतरी शत्रुओ से सघर्ष करो। इन्हे परास्त करने पर ही सच्चे सुख और शान्ति का लाभ होगा। सासारिक विषयो के अधीन रहकर मनुष्यो को अपने आत्मा की हानि नही करनी चाहिए। मानव अज्ञानवश भौतिक पदार्थों की साध मे लगा रहता है, जो वास्तव मे नश्वर है और दु.ख के कारण है। मानव-जीवन इन आसक्तियो के लिए नही है। इनसे विरक्त होकर सभी को आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये, जो परमानन्ददायक है।

प्रभु की मर्मस्पर्शिनी वाणी से हजारो नर-नारियो की सोयी आत्माएँ सजग हो गयी और उन्होने चारित्रधर्म स्वीकार किया। प्रभु ने चतुर्विध सघ स्थापित किया और वे भाव तीर्थंकर कहलाए।

प्रभावशीलता

केवली प्रभु ने लगभग ढाई लाख वर्षों की सुदीर्घ अवधि सतत विचरणशील रह कर व्यतीत की और असख्य नर-नारियो को उद्बोधित कर उन्हे आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया। भगवान के इस व्यापक अभियान का एक स्मरणीय अश पुरुषसिंह वासुदेव के उद्धार से सबधित है।

भगवान विचरण करते-करते एक समय अश्वपुर पहुंचे और वहाँ के उद्यान मे विश्राम करने लगे। तत्कालीन वासुदेव पुरुषसिंह इस राज्य का स्वामी था। इस समय का बलदेव सुदर्शन था। उद्यान कर्मचारी ने जब भगवान के आगमन का शुभ सन्देश वासुदेव पुरुषसिंह को दिया, तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। आदर भाव के साथ उसने सिंहासन से उठकर वही से प्रभु को नमन किया और सन्देश वाहक को पुरस्कृत किया। पुरुषसिंह अपने भ्राता बलदेव सुदर्शन के साथ प्रभु की वन्दना और दर्शन हेतु उद्यान मे आया। भगवान के चरणो मे श्रद्धा के पुष्प समर्पित किये। भगवान की

दिव्य देशना से वासुदेव पुरुषसिंह को जागृति आयी और उसने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार बलदेव सुदर्शन ने श्रावकधर्म ग्रहण किया।

परिनिर्वाण

भगवान धर्मनाथ अपना निर्वाण-काल समीप अनुभव कर सम्मेतशिखर पहुचे और ८०० मुनियो के साथ उन्होंने अनशन व्रत आरम्भ कर दिया। ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को पुष्य नक्षत्र मे समस्त कर्मों का क्षय कर भगवान ने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन गये। भगवान ने कुल दस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया था।

धर्म-परिवार

गणधर	४३
केवली	४,५००
मन पर्यवज्ञानी	४,५००
अवधिज्ञानी	३,६००
चौदह पूर्वधारी	९००
वैक्रियलब्धिधारी	७,०००
वादी	२,८००
साधु	६४,०००
साध्वी	६२,४००
श्रावक	२,४०,०००
श्राविका	४ १३,०००

□□

16

भगवान शान्तिनाथ

(चिन्ह—मृग)

भगवान धर्मनाथ स्वामी के अनन्तर भगवान शान्तिनाथ स्वामी १६वें तीर्थंकर हुए हैं।

"कामदेव के स्वरूप को भी अपने शरीर की शोभा से तिरस्कृत करने वाले, हे शान्तिनाथ प्रभु! इन्द्रो का समूह निरन्तर आपकी सेवा-स्तुति करता रहता है, क्योकि आप भव्य प्राणियो को रोगरहित करने व परमशान्ति देने वाले है।"

पूर्वजन्म

भगवान शान्तिनाथ स्वामी का समग्र जीवन सर्वजनहिताय और अत्यन्त पवित्र था। उनकी तप-साधना की उपलब्धियाँ आत्म-कल्याणपरक ही नही, अपितु व्यापक लोकहितकारिणी थी। प्रभु के इस जीवन की इन विशेषताओ का मूल जन्म-जन्मान्तरो के सुसस्कारो मे निहित था। अपने अनेक पूर्वभवो मे आपने तीर्थंकर का नामकर्म उपार्जित किया था।

प्राचीन काल मे पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी। उस नगरी मे घनरथ नाम का राजा राज्य करता था जिसके मेघरथ एव दृढरथ—ये दो पुत्र थे। वृद्धावस्था मे राजा घनरथ ने ज्येष्ठ कुमार मेघरथ का राज्याभिषेक कर राज्य का समस्त भार उसे सौंप दिया। नृपति के रूप मे मेघरथ ने स्वय को बडा न्यायी, योग्य और कुशल सिद्ध किया। स्नेह के साथ प्रजा का पालन करना उसकी विशेषता थी। वह बडा शूर-वीर, बलवान और साहसी तो था ही, उसके बलिष्ठ तन मे अतिशय कोमल मन का ही निवास था। वह दयालु स्वभाव का और धर्माचारी था। व्रत-उपवास, पौषध, नित्यनियमादि मे वह कभी प्रमाद नही करता था।

राजसी वैभव और अतुलनीय सुखोपभोग का अधिकारी होते हुए भी उसका मन इन विषयो मे कभी नही रमा। तटस्थतापूर्वक वह अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने मे ही लगा रहता था। वह सर्वथा आत्मानुशासित था और सयमित जीवन का अभ्यस्त था। आकर्षण और उत्तेजना से वह सदा अप्रभावित रहा करता था। इसी पुण्यात्मा का जीव आगामी जन्म मे भगवान शान्तिनाथ के रूप मे अवतरित हुआ था। महाराज मेघरथ की करुणा भावना की महानता का परिचय एक प्रसग से मिलता है—

राजा मेघरथ चिन्तन-मग्न बैठा था। सहसा एक निरीह पक्षी कबूतर, जो भय-

कम्पित था उसकी गोद मे आ गिरा। राजा का ध्यान भग हो गया। उसने देखा कि कवूतर किसी भयकर विपत्ति मे ग्रस्त है, वेचैन है और बुरी तरह हाँफ रहा है। करुणा के साथ राजा ने अपने कोमल करो मे उसे स्पर्श कर आश्वस्त किया। भयातुर कवूतर राजा से प्राण-रक्षा की प्रार्थना करने लगा। राजा ने उसे अभयदान देकर कहा कि 'अब तुम मेरे आश्रय मे आ गये हो, कोई भी तुम्हारी हानि नही कर सकेगा, स्वस्थ हो जाओ।' इस रक्षण से कवूतर तनिक निर्भीकता का अनुभव करने ही लगा था कि एक वाज वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसे देखकर वह फिर अधीर हो गया और कातरभाव से राजा से वह विनय करने लगा कि 'यही वाज मेरे पीछे पडा हुआ है, यह मेरे प्राणो का ग्राहक वना हुआ है—मेरी रक्षा कीजिए मेरी रक्षा कीजिए।'

तुरन्त कठोर स्वर मे वाज ने राजा से कहा कि 'कवूतर को छोड दीजिये—इस पर मेरा अधिकार है। यही मेरा खाद्य है। मेरा आहार शीघ्र ही मुझे दो, मैं भूखा हूँ।'

राजा ने उसे वोध दिया कि 'उदरपूर्ति के लिए जीव-हिंसा घोर पाप है—तुम इस पाप मे न पडो। फिर इस पक्षी को तो मैंने अपनी शरण मे ले लिया है। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। तुम भी पाप मे न पडो और मुझे भी मेरा कर्त्तव्य पूरा करने दो। क्यो व्यर्थ ही इस भोले पक्षी को त्रस्त किये हुए हो।' राजा के इस उपदेश का वाज पर कोई प्रभाव होने ही क्यो लगा ? उसने कुतर्कों का आश्रय लेते हुए कहा कि 'मैं भूखो मर रहा हूँ। इसका क्या होगा ? क्या तुम्हें इसका पाप न चढेगा ?' राजा ने फिर भी कवूतर को छोड देने से इनकार करते हुए कहा कि 'मेरी पाकशाला मे विविध व्यजन तैयार है। चलो मेरे साथ और पेट भर कर आहार करो, अपनी भूख को शान्त कर लो।'

इस पर वाज ने कहा कि 'मैं तो मासाहारी हूँ। तुम्हारी पाकशाला के भोज्य पदार्थ मेरे लिए अखाद्य हैं। मुझे मेरा कवूतर लौटा दो, वहुत भूख लगी है।' राजा वडे असमजस मे पडा। इसके लिए माँस की व्यवस्था कहाँ से करे ? जीव-हिंसा तो वह कर ही नही सकता था और वाज ताजा मास की माँग कर रहा था।

वाज की भूख शान्त करने के लिए राजा ने अनुपम उत्सर्ग किया। उसने एक वडी तराजू मँगायी। उसके एक पलडे मे कवूतर को वैठाया और दूसरे पलडे मे वह अपने शरीर से माँस काट-काटकर रखने लगा। वह लोथ के लोथ अपने ही शरीर का मास रखता जाता था, किन्तु वह कवूतर के भार से कम ही तुल रहा था। यहाँ तक कि राजा ने अपने शरीर का आधा मांस तराजू पर चढा दिया, तथापि कवूतर भारी पडता रहा। उसका पलडा भूमि से ऊपर ही नही उठता था। राजा का शरीर क्षत-विक्षत और लहू-लुहान हो गया था। उसका धैर्य अब भी वना हुआ था, किन्तु शक्ति चुकती जा रही थी। उसने अपने मास को कवूतर के भार के वरावर तोलकर वाज को खिलाना चाहा था, किन्तु उसका मास जब लगातार कम ही पडता रहा, तो वह उठकर स्वय ही पलडे मे वैठने को तत्पर हुआ। उसके लिए यह प्रसन्नता का विषय था कि उसकी नश्वर देह किसी के प्राणो की रक्षा के लिए प्रयुक्त हो।

उसी समय एक देव वहाँ पर प्रकट हुआ और दैन्यपूर्वक क्षमा याचना करने लगा। तुरन्त सारा दृश्य ही परिवर्तित हो गया। न तो वाज और न ही कबूतर वहाँ था। राजा भी स्वस्थ-तन हो गया था। उसकी देह से काटा गया मांस भी दृष्टिगोचर न होता था। तब उस देव ने इस सारे प्रसग का रहस्य प्रकट किया—

देव ने कहा कि स्वर्ग मे देव-सभा मध्य इन्द्र ने आपकी शरणागत वत्सलता और करुणा-भावना की अतिशय प्रशसा की थी। मैं सहज विश्वासी नही हूँ। मैंने देवेन्द्र के कथन मे अतिशयोक्ति का अनुभव कर उसमे सन्देह किया। मैं स्वय आपकी परीक्षा लेकर ही विश्वास करना चाहता था अत मैं स्वर्ग से चल पडा मार्ग मे वाज पक्षी मिल गया। मैंने ही उसके शरीर मे प्रवेश करके यह सब कुछ किया। नरेश! आप धन्य हैं और धन्य है आपकी धीर-वीरता, करुणा और धर्मपालन की भावना। जैसा मैंने आपके विषय मे सुना था, आज आपको वैसा ही पाया है।

अवधिज्ञान की सहायता से सब कुछ ज्ञात कर महाराज मेघरथ ने वताया कि एक श्रेष्ठी के दो पुत्र व्यवसायार्थ विदेश गये हुए थे। किसी रत्न को लेकर दोनो मे कलह हुआ और वह भीषण सघर्ष मे परिवर्तित हो गया जिसमे दोनो ही मारे गये। उस जन्म का वैर होने के कारण आगामी जन्म मे उनके जीव कबूतर और बाज के रूप मे जन्मे। उस देव के पूर्वभव के विषय मे भी महाराज ने बताया कि वह दमतारि नाम का प्रतिवासुदेव था और मैं अपने एक पूर्वभव मे अपराजित बलदेव। उस भव मे बन्धु दृढरथ वासुदेव था। दमतारि की कन्या कनकश्री के लिए उस भव मे हम दोनो भाइयो ने दमतारि से युद्ध किया था और वह हमारे हाथो मारा गया। शत्रुता का सस्कार लिए हुए उसकी आत्मा अनेक भवो को पार करती हुई एक बार तपस्वी बनी और तप के परिणामस्वरूप वह देव बना। पूर्वभव के वैमनस्य के कारण ही इस भव मे मेरी प्रशसा जब ईशानेन्द्र ने की, तो वह उसके लिए असह्य हो गयी थी।

देव तो अदृश्य हो गया था। बाज और कबूतर ने अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुना तो उन्हे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे महाराज मेघरथ से विनयपूर्वक निवेदन करने लगे कि मानव-जीवन तो हमने व्यर्थ खो ही दिया था, यह भव भी हम पाप सचय मे ही लगा रहे है। दया करके अब भी हमे मुक्ति का साधन बताइये। मेघरथ ने उन्हे अनशन व्रत का निर्देश दिया और इस साधन द्वारा उन्हे देवयोनि प्राप्त हो गयी।

एक और भी प्रसग उल्लेखनीय है जो साधना मे उनकी अडिगता का परिचय देता है। वृत्तान्त इस प्रकार है कि एक समय मेघरथ कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानलीन बैठे थे और स्वर्ग मे ईशानेन्द्र ने उन्हे प्रणाम किया। चकित होकर इन्द्राणियो ने यह जानना चाहा कि यह प्रणम्य कौन है, जिसे समस्त देवो द्वारा वन्दनीय इन्द्र भी आदर देता हो। ईशानेन्द्र ने तब मेघरथ का परिचय देते हुए कहा कि वे १६वें तीर्थंकर होगे—उनका तप अचल है। कोई शक्ति उन्हे डिगा नही सकती। यह प्रशसा इन्द्रा-

णियो के लिए भला कैसे सहन होती ? उन्होने मेघरथ को तप-भ्रष्ट करने का निश्चय किया और वे स्वय ही इस लोक मे आई और उन अतिरूपवतियो के हाव-भाव, आगिक चेष्टाओ, नृत्य-गान आदि अनेक उपायो से मेघरथ को विचलित करने के प्रयास किये। अन्तत उन्हे अपने प्रयत्नो मे विफल ही होना पडा। उनका सम्मोहक माया-जाल व्यर्थ सिद्ध हुआ।

इस प्रसग ने मेघरथ के विरक्तिभाव को प्रवलतर कर दिया। सारी घटना सुनकर रानी प्रियमित्रा ने भी सयम स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। भगवान घनरथ का सयोग से उसी नगर मे आगमन हुआ और मेघरथ ने उनके पास दीक्षाग्रहण करली। मुनि मेघरथ ने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया और शरीर त्याग कर वे सर्वार्थसिद्धि महाविमान मे देव वने।

जन्म-वंश

कुरुदेश मे हस्तिनापुर नाम का एक नगर था, जहाँ महाराज विश्वसेन शासन करते थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम अचिरा देवी था। सर्वार्थसिद्धि विमान मे सुखोप-भोग की अवधि समाप्त हो जाने पर मेघरथ के जीव ने वहाँ से च्यवन किया और रानी अचिरा देवी के गर्भ मे स्थित हुआ। वह शुभ तिथि थी—भाद्रपद कृष्णा सप्तमी और वह श्रेष्ठ वेला थी भरणी नक्षत्र की। रानी ने गर्भ-धारण की रात्रि मे ही १४ दिव्य स्वप्न देखे और इसके फल से अवगत होकर कि उसकी कोख से तीर्थंकर का जन्म होगा—वह वडी ही उल्लसित हुई।

ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र मे ही रानी अचिरा ने एक तेजवान पुत्र को जन्म दिया। वालक कुन्दनवर्णी और १००८ गुणो मे सम्पन्न था। भगवान का जन्म होते ही सभी लोको मे तीर्थंकर जन्म-सूचक आलोक फैल गया। इन्द्र, देवो और दिक्कुमारियो ने उत्साह के साथ जन्म-कल्याण महोत्सव मनाया। सारे राज्य भर मे प्रसन्नता छा गयी और अनेक उत्सवो का आयोजन हुआ।

उस काल मे कुरू देश मे भयानक महामारी फैली हुई थी। नित्य-प्रति अनेक व्यक्ति रोग के शिकार हो रहे थे। अनेक-अनेक उपचार किये गये, पर महामारी शान्त नहीं हो रही थी। भगवान के गर्भस्थ होते ही उस उपद्रव का वेग कम हुआ। महा-रानी ने राजभवन के ऊँचे स्थल पर चढकर सव ओर दृष्टि डाली। जिस-जिस दिशा मे रानी ने दृष्टिपात किया, वहाँ-वहाँ रोग शात होता गया और इस प्रकार सारे देश को भयकर कष्ट से मुक्ति मिल गयी। भगवान के इस प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए उनका नाम शान्तिनाथ रखा गया।

गृहस्थ-जीवन—चक्रवर्ती पद

राजसी वैभव और स्नेहसिक्त वातावरण मे कुमार शान्तिनाथ का लालन-पालन होने लगा। अनेक वाल-सुलभ क्रीडाएँ करते हुए वे शारीरिक और मानसिक विकसित होते रहे और युवा होने पर वे क्षत्रियोचित शौर्य, पराक्रम, सा

शक्ति के मूर्त रूप दिखायी देने लगे। यद्यपि सासारिक विषयो मे कुमार की तनिक भी रुचि न थी, किन्तु भोग-फलदायी कर्मों को नि शेष भी करना था और माता-पिता के आग्रह का वे अनादर भी नही कर सकते थे, अत उन्होने गुणवती रमणियो के साथ विवाह किया तथा सुखी दाम्पत्य-जीवन का उपभोग भी किया।

जब युवराज की आयु २५ हजार वर्ष की हुई तो पिता महाराज विश्वसेन ने उन्हे राज्याभिषेक कर समस्त सत्ता का अधिकारी बना दिया और स्वय विरक्त होकर सयम मार्ग पर आरूढ हो गये। महाराजा के रूप मे शातिकुमार ने न्यायशीलता, शासन-कौशल और प्रजावत्सलता का परिचय दिया। पराक्रमशीलता मे तो राजा शातिनाथ और भी दो चरण आगे थे। उनके पराक्रम का सभी नरेश लोहा मानते थे। किसी भी राजा का साहस हस्तिनापुर के साथ वैमनस्य रखने का न होता था।

महाराज शातिनाथ के शासनकाल के कोई २५ हजार वर्ष व्यतीत हुए होगे कि उनके शस्त्रागार मे चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। यह इस बात का निर्देश था कि अब नरेश को चक्रवर्ती बनने के प्रयास आरम्भ करने है। राजा ने चक्ररत्न उत्पत्ति-उत्सव मनाया और चक्र शस्त्रागार से निकल पडा। खुले व्योम मे जाकर वह पूर्व दिशा मे स्थापित हो गया। सदलबल महाराज ने पूर्व मे प्रयाण किया। अपनी आसमुद्र विजय यात्रा के मार्ग मे पडने वाले राजाओ को अपने अधीनस्थ करते हुए उन्होने शेष तीनो दिशाओ मे भी विजय पताका फहरा दी। तब सिंधु को लक्ष्य मानकर उनकी सेना अग्रसर हुई। सिंधु देवी ने भी अधीनता स्वीकार की। तदनन्तर उन्होने वैताढ्यगिरि को अपने अधीन किया। इस प्रकार ६ खण्ड साधकर महाराज शान्तिनाथ चक्रवर्ती की समस्त ऋद्धियो सहित राजधानी हस्तिनापुर लौट आये। देवो और नरेशो ने सम्राट को चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया एव विराट महोत्सव आयोजित हुआ, जो १२ वर्षों तक चलता रहा। प्रजा इस अवधि मे कर और दण्ड से भी मुक्त रही। लगभग २४ सहस्र वर्षों तक सम्राट शान्तिनाथ चक्रवर्ती पद पर विभूषित रहे।

दीक्षाग्रहण—केवलज्ञान

अब महाराज शान्तिनाथ के भोगफलदायी कर्म समाप्त होने आये थे। उनके मन मे छिपा विरक्ति का बीज अकुरित होने लगा और वे सयम स्वीकारने की कामना करने लगे। वे यद्यपि स्वयबुद्ध थे, तथापि मर्यादानुसार लोकान्तिक देवो ने आकर भगवान से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की।

अनासक्त होकर भगवान ने राजपाट अपने पुत्र चक्रायुध को सौंप दिया और स्वय वर्षीदान मे प्रवृत्त हो गये। एक वर्ष तक सतत रूप से दान करने के पश्चात् भगवान ने गृहत्याग किया। निष्क्रमणोत्सव मनाया गया और देवो ने उनका दीक्षाभिषेक किया।

अन्तिम रूप मे मूल्यवान राजसी वस्त्रालकार धारण कर भगवान सर्वार्थ शिविका मे आरूढ होकर सहस्राम्रवन पधारे। वहाँ स्वत ही उन्होंने उन आभूषणो

किया। ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र मे समस्त कर्मों का नाश कर भगवान ने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और वे सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	९०
केवली	४,३००
मन पर्यवज्ञानी	४,०००
अवधिज्ञानी	३,०००
चौदह पूर्वधारी	८००
वैक्रियलब्धिधारी	६,०००
वादी	२,४००
साधु	६२,०००
साध्वी	६१,६००
श्रावक	२,९०,०००
श्राविका	३,९३,०००

□□

| १८ |

भगवान श्री कुन्थुनाथ

(चिन्ह —छाग)

शान्ति के स्थान और नय रूपी सुन्दर समुद्र मे तरुण की शोभा को धारण करने वाले, हे कुन्थुनाथ भगवान ! मुझे मोहरूपी नवीन वैरी समूह का दमन करने के लिए मोक्षमार्ग मे पहुंचा दें

१७वे तीर्थंकर भगवान श्री कुन्थुनाथ हुए है।

पूर्व-जन्म

प्राचीन काल मे पूर्व महाविदेह क्षेत्र मे खड्गी नामक राज्य था। चर्चा उस काल की है, जब इस राज्य मे महाप्रतापी नरेश सिंहावह का शासन था। महाराजा स्वय भी धर्माचारी थे और इसी मार्ग पर अपनी प्रजा को अग्रसर करने का पवित्र कर्त्तव्य भी वे पूर्ण रुचि के साथ निभाते थे। पापो के उन्मूलन मे सदा सचेष्ट रहने वाले महाराजा सिंहावह वैभव-सिन्धु मे विहार करते हुए भी कमलपुष्प की भांति अलिप्त रहा करते थे। अनासक्ति की भावना के साथ ही राज्य-सचालन के दायित्व को पूरा किया करते थे। महाराजा ने यथासमय सयम स्वीकार करने की भावना व्यक्त की और सवराचार्य के पास उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने साधक जीवन मे मुनि सिंहावह ने तीव्र साधनाएँ की, अर्हद भक्ति आदि बीस स्थानो की आराधना की तथा तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया। समाधि के साथ कालकर मुनि सिंहावह के जीव ने सर्वार्थसिद्धि महाविमान मे ३३ सागर की आयु वाले अहमिन्द्र के रूप मे स्थान पाया।

जन्म-वश

कुरुक्षेत्र मे एक राज्य था—हस्तिनापुर नगर। समृद्धि और सुख-शान्ति के लिए उस काल मे यह राज्य अति विख्यात था। सूर्यसम तेजस्वी नरेश शूरसेन वहाँ के शासक थे और उनकी धर्मपत्नी महारानी श्री देवी थी। ये ही भगवान कुन्थुनाथ के माता-पिता थे।

जब सर्वार्थसिद्धि विमान मे सुखोपभोग की अवधि समाप्त हुई, तो वहाँ से प्रस्थान कर मुनि सिंहावह के जीव ने महारानी श्रीदेवी के गर्भ मे स्थान पाया। वह श्रावण कृष्णा नवमी का दिन और कृत्तिका नक्षत्र का शुभयोग था। उसी रात्रि मे

रानी ने तीर्थंकर के गर्भागमन का द्योतन करने वाले १४ महान् शुभ स्वप्नो का दर्शन किया और अपने सौभाग्य पर वह गर्व और प्रसन्नता का अनुभव करने लगी। प्रफुल्ल-चित्तता के साथ माता ने गर्भ का पालन किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र मे ही उसने एक अनुपम रूपवान और तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

कुमार के जन्म पर राज-परिवार और समग्र राज्य मे हर्षपूर्वक उत्सव मनाये गये। उत्सवो का यह क्रम १० दिन तक चलता रहा। कुमार जब गर्भ मे थे, तो माता ने कुन्थु नामक रत्न की राशि देखी थी। इसी को नामकरण का आधार मानकर पिता ने कुमार का नाम कुन्थुकुमार रखा।

श्री-समृद्धि से पूर्ण, अत्यन्त सुखद एव स्नेह से परिपूर्ण वातावरण मे कुमार का लालन-पालन हुआ। क्रमश कुमार शैशव से किशोरावस्था मे आये और उसे पार कर उन्होने यौवन के सरस प्रांगण मे प्रवेश किया।

गृहस्थ-जीवन

युवराज कुन्थुनाथ अतिभव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी बलिष्ठ देह ३५ धनुष ऊँची और समस्त शुभ लक्षणयुक्त थी। वे सौन्दर्य की साकार प्रतिमा से थे। उपयुक्त आयु प्राप्ति पर पिता ने अनिंद्य सुन्दरियो के साथ कुमार का विवाह सम्पन्न कराया। युवराज का दाम्पत्य-जीवन भी बडा सुखी था। २४ सहस्र वर्ष की आयु होने पर पिता ने इन्हे राज्यासीन कर दिया। महाराजा होकर कुन्थुकुमार ने शासन-कार्य आरम्भ किया। शासक के रूप मे उन्होने स्वय को सुयोग्य एव पराक्रमी सिद्ध किया। पिता से उत्तराधिकार मे प्राप्त वैभव एव राज्य को और अधिक अभिवर्धित एव विकसित कर वे 'अतिजातपुत्र' की पात्रता के अधिकारी बने। लगभग पौने चौबीस सहस्र वर्ष का उनका शासनकाल व्यतीत हुआ था कि उनके शस्त्रागार मे 'चक्र रत्न' की उत्पत्ति हुई, जो अन्तरिक्ष मे स्थापित हो गया। यह शुभ सकेत पाकर महाराजा कुन्थू ने विजय-अभियान की तैयारी की और इस हेतु प्रयाण किया। अपनी शक्ति और साहस के बल पर महाराज ने ६ खण्डो को साधा और अनेक सीमारक्षक देवो पर विजय प्राप्त कर उन्हे अपने अधीन कर लिया। ६०० वर्ष तक सतत रूप से युद्धो मे विजय प्राप्त करते हुए वे चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से सम्पन्न होकर राजधानी हस्तिनापुर लौटे। महाराज का चक्रवर्ती महोत्सव १२ वर्षों तक मनाया जाता रहा। इस अवधि मे प्रजा कर-मुक्त जीवन व्यतीत करती रही थी। सम्राट चौदह रत्नो और नव-निधान के स्वामी हो गये थे। सहस्रो नरेशो के वे अधिराज थे। तीर्थंकरो को चक्रवर्ती की गरिमा ऐश्वर्य के लिए प्राप्त नही होती—भोगावली कर्म के कारण होती है। अत इस गौरव के साथ भी वे विरक्त बने रहते हैं। सम्राट कुन्थुनाथ भी इसके अपवाद नही थे।

दीक्षा-ग्रहण व केवलज्ञान

इस प्रकार सुदीर्घकाल तक अपार यश और वैभव का उपभोग करते हुए

महाराजा कुन्थु ने इतिहास मे अपना अमर स्थान बना लिया था। उनके जीवन मे तब वह क्षण भी आया जब वे आत्मोन्मुखी हो गये। अब उनके भोगकर्म क्षीण होने को आये थे और उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की कामना व्यक्त की। यह उनके विरक्त हो जाने का उपयुक्त समय था—इसकी पुष्टि इस तथ्य से हो गयी कि ब्रह्म-लोक से लोकान्तिक देवो ने आकर उनसे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। उत्तराधिकारी को राज्य सौपकर वे वर्षीदान मे प्रवृत्त हो गये और १ वर्ष तक अपार दान देते रहे। वे प्रतिदिन १ करोड आठ लाख स्वर्ण मुद्रा दान करते थे। उनके दान की अपारता का उपमान मेघ वृष्टि को माना जाता था। एक और भी विशेषता उनके दान के विषय मे विख्यात है। याचक दान मे प्राप्त धन को जिस धन-राशि मे सम्मिलित कर लेता था, वह धनराशि अक्षय हो जाती थी, कभी समाप्त ही नही होती थी।

वर्षीदान सम्पन्न हो जाने पर भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया गया। इन्द्रादि देव इसमे सम्मिलित हुए और भगवान कुन्थुनाथ ने दीक्षाभिषेक के पश्चात् गृह-त्याग कर निष्क्रमण किया। विजया नामक शिविका मे बैठकर वे सहस्राम्रवन मे पहुँचे जहाँ उन्होने अपने मूल्यवान वस्त्रालकारो को त्याग दिया। वैशाख कृष्णा पचमी को कृत्तिका-नक्षत्र के शुभयोग मे पचमुष्टि लोचकर षष्ठ भक्त तप के साथ भगवान ने चारित्र स्वीकार लिया। इसी समय भगवान को मन पर्यवज्ञान का लाभ हुआ था। दीक्षा के आगामी दिन चक्रपुर नगर के नरेश व्याघ्रसिह के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

पारणा के पश्चात् भगवान कुन्थुनाथ स्वामी अपने अजस्र विहार पर निकले और १६ वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे उन्होने अनेक परीषह झेलते हुए विचरण किया तथा कठोर तप-साधना की। अन्तत प्रभु पुन हस्तिनापुर के उसी सहस्राम्रवन मे पधारे जहाँ उन्होने दीक्षा ग्रहण की थी। तिलक वृक्ष के तले प्रभु ने षष्ठभक्त तप के साथ कायोत्सर्ग किया। शुक्लध्यान मे लीन होकर उन्होने क्षपक श्रेणी मे आरोहण किया और घातिक कर्मों को क्षीण करने मे सफल हो गये। अब भगवान केवलज्ञान के स्वामी होगये थे। इस महान् उपलब्धि की शुभ वेला थी—चैत्र शुक्ला तृतीया की कृत्तिका नक्षत्र की घडी।

प्रथम धर्म-देशना

प्रभु की इस उपलब्धि से त्रैलोक्यव्यापी प्रकाश उत्पन्न हुआ और केवलज्ञान महोत्सव मनाया गया। सहस्राम्रवन मे ही प्रभु का समवसरण भी रचा गया और जन-जन के हितार्थ भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना दी। केवली भगवान कुन्थुनाथ ने श्रुतधर्म व चारित्रधर्म की व्याख्या करते हुए इनके महत्त्व का प्रतिपादन किया। विशेषत सासारिको के दु.ख पर आत्म-चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान ने बोध कराया कि अज्ञान और मोह के बीज ही अकुरित होकर दु ख की लता को

साकार रूप देते है। यह लता अबाध रूप से फैलती है एव भय, सताप आदि फलो को ही उत्पन्न करती है। अत इन कष्टो से मुक्त होने के लिए इनके बीज को ही नष्ट करना पड़ेगा। अज्ञान, मोह आदि को जो नष्ट कर देता है वह दु खो के जाल से मुक्त हो जाता है।

असख्य भव्यजन इस देशना से प्रबोधित हुए और उन्होंने दीक्षा को अगीकार कर लिया। प्रभु चतुर्विध सघ स्थापित कर भाव तीर्थंकर कहलाए।

परिनिर्वाण

केवली प्रभु ने विचरणशील रहकर अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाया और असख्य नर-नारियो को उस प्रकाश मे अपना उचित मार्ग खोजने मे सफलता मिलती रही। व्यापक लोक-मगल करते-करते जब प्रभु ने अपना निर्वाण-काल समीप ही अनुभव किया, तो वे सम्मेत शिखर पहुँचे। तब तक केवलज्ञान प्राप्ति को २३ हजार ७ सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। भगवान ने एक हजार मुनियो के साथ एक मास का अनशन किया। वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र मे भगवान कुन्थुनाथ ने सम्पूर्ण कर्मो का विनाश कर दिया और निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। अब वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये थे।

धर्म-परिवार

गणधर	३५
केवली	३,२००
अवधिज्ञानी	२,५००
मन पर्यवज्ञानी	३,३४०
चौदह पूर्वधारी	६७०
वैक्रियलब्धिधारी	५,१००
वादी	२,०००
साधु	६०,०००
साध्वी	६०,६००
श्रावक	१,७६,०००
श्राविका	३,८१,०००

□□

18

भगवान अरनाथ

(चिन्ह—*नन्दावर्त स्वस्तिक*)

जिनके चरण तल मे देवश्रेणी लौटती है—ऐसे हे सुदर्शन सुत अरनाथ स्वामि ! आपके चरण-कमलो की सेवा, शान्त न होने वाले भव-रोग की औषधि समान, बडी ही उत्तम है । अत मैं भी आपकी सेवा को अगीकार करता हूँ । आपकी आज्ञा का पालन करना ही आपकी सच्ची सेवा है ।

भगवान कुथुनाथ के पश्चात् अवतरित होने वाले भगवान अरनाथ स्वामी १८वें तीर्थंकर हुए हैं ।

पूर्व जन्म

भगवान अरनाथ स्वामी अपने पूर्व भवो मे बडे पुण्यात्मा जीव रहे । वे त्याग, तपस्या, क्षमा, विनय और भक्ति को ही सर्वस्व मानते रहे । इन्ही सुसस्कारो का परिणाम तीर्थंकरत्व की उपलब्धि के रूप मे प्रकट हुआ था । इस भव से ठीक पूर्व के भव की चर्चा यहाँ प्रासगिक है ।

महाविदेह क्षेत्र के वत्स नामक विजय मे एक सुन्दर नगरी थी—सुसीमा । एक समय यहाँ धनपति नाम के राजा राज्य करते थे । महाराजा धनपति के शासन की विशेषता यह थी, कि वह प्रेमपूर्वक चलाया जाता था । महाराज ने, जो दया, क्षमा और प्रेम के जैसे साक्षात् अवतार ही थे, अपनी प्रजा को न्याय, धर्म, अनुशासन, पारस्परिक स्नेह, बन्धुता, सत्याचरण आदि सद्गुणो के व्यवहार के लिए ऐसा प्रेरित किया था कि उनके राज्य मे अपराध-वृत्ति का समूल विनाश हो गया था । परिणामत उनके शासन-काल मे दण्ड-विधान प्रयुक्त ही नही हो पाया । पिता के समान राजा अपनी प्रजा का पालन किया करते थे और उनके स्नेह से अभिभूत जनता भी अपने महाराजा का अतिशय आदर करती एवं स्वेच्छापूर्वक उनकी नीतियो का अनुसरण करती थी । धर्म और न्याय के साथ शासन करते हुए महाराजा धनपति को जब पर्याप्त समय हो गया और अवस्था ढलने लगी तो उनके मन मे पहले से स्थिर हो रही अनासक्ति का भाव प्रबल होने लगा । एक दिन अपना राज्य उत्तराधिकारी को सौप कर सब कुछ त्याग कर वे विरक्त हो गये । संवर मुनि के पास उन्होने दीक्षा ले ली और तप-साधना करते हुए वे विहार-रत हो गये । अपनी उच्चकोटि की साधना द्वारा उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया तथा समाधि सहित काल कर वे ग्रैवेयक

मे महर्द्धिक देव बने। यही जीव आगे चलकर भगवान अरनाथ के रूप मे अवतरित हुआ।

जन्म-वंश

उन दिनो हस्तिनापुर राज्य मे इक्ष्वाकु वश के महाराजा सुदर्शन का शासन था। इनकी धर्मपत्नी महारानी महादेवी अत्यन्त धर्म-परायणा एव शीलवती थी। स्वर्गिक सुखोपभोग की अवधि जब शेष नही रही तो मुनि धनपति का जीव ग्रैवेयक से च्यवकर रानी महादेवी के गर्भ मे स्थिर हुआ। वह फाल्गुन शुक्ला द्वितीया का दिन था और उसी (गर्भ धारण की) रात्रि को रानी ने १४ शुभ स्वप्नो का दर्शन किया। वह भावी तीर्थंकर की जननी बनने वाली है—यह ज्ञात होने पर रानी महादेवी का मन मुदित हो उठा और इसी सुखी मानसिक दशा के साथ उसने गर्भकाल व्यतीत किया।

यथासमय गर्भ की अवधि पूर्ण हुई और महारानी ने मृगशिर शुक्ला दशमी को पुत्र प्रसव किया। नवजात शिशु अत्यन्त तेजस्वी था और अनुपम रूपवान भी। तीर्थंकर के जन्म ले लेने का समाचार पलभर मे तीनो ही लोको मे प्रसारित हो गया। सर्वत्र हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। कुछ पलो के लिए तो घोर यातना भोग रहे नारकीय जीव भी अपने कष्टो को विस्मृत कर बैठे। ५६ दिक्कुमारियो ने आकर माता महादेवी को श्रद्धासहित नमस्कार किया। देवताओ ने भी भगवान का जन्मोत्सव अत्यन्त हर्ष के साथ मनाया। राज-परिवार और प्रजाजन की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या? विविध उत्सवो और मगल-गानो के माध्यम से इन्होने हार्दिक प्रसन्नता को अभिव्यक्ति दी।

जब भगवान गर्भ मे थे, तभी माता ने रत्न निर्मित चक्र के अर को देखा था। इसी हेतु से महाराज सुदर्शन ने 'अरनाथ' नाम से कुमार को पुकारा और वही नाम उसके लिए प्रचलित हुआ।

गृहस्थ-जीवन

कुमार अरनाथ सुखी, आनन्दपूर्ण बाल-जीवन व्यतीत कर जब युवक हुए तो लावण्यवती नृपकन्याओ के साथ उनका विवाह हुआ। २१ हजार वर्ष की आयु प्राप्ति पर उनका राज्याभिषेक हुआ। महाराजा सुदर्शन ने समस्त राजकीय दायित्व युवराज अरनाथ को सौंप दिये और स्वयं विरक्त हो गये। महाराज अरनाथ वश-परम्परा के अनुकूल ही अतिपराक्रमी, शूरवीर और साहसी थे। अपने राज्यत्वकाल के इक्कीस सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुकने पर पूर्व तीर्थंकर की भाँति ही इनकी आयुधशाला मे भी चक्ररत्न उदित हुआ। यह इस बात का घोषक था कि महाराजा अरनाथ को अब दिग्विजय कर चक्रवर्ती सम्राट बनना है। नरेश ने चक्ररत्न का पूजन किया और चक्र शस्त्रागार छोडकर अतरिक्ष मे स्थिर हो गया। भूपति ने सकेतानुसार विजय अभियान हेतु सैन्य सजाया और तत्काल प्रयाण किया। इस शौर्य अभियान मे महाराजा

अरनाथ ससैन्य एक योजन की यात्रा प्रतिदिन किया करते और इस बीच स्थित राज्यो के नृपतियो से अपनी अधीनता स्वीकार कराते चलते । आसिंधु विजय (पूर्व की दिशा मे) कर चुकने के पश्चात वे दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख हुए। इस क्षेत्र को जीतकर पश्चिम की ओर अग्रसर हुए और महान् विजयश्री पाकर वे उत्तर मे आये। यहाँ के भी तीनो खण्डो को उन्होने साध लिया। गगा समीप का सारा क्षेत्र भी उन्होंने अधीनस्थ कर लिया और इस प्रकार समस्त भरतखण्ड मे विजय ध्वजा फहराकर महाराज ४०० वर्षों के इस अभियान की उपलब्धि 'चक्रवर्ती गौरव' के साथ राजधानी हस्तिनापुर लौटे थे। देव-मनुजो के विशाल समुदाय ने भूपेश का चक्रवर्ती नरेश के रूप मे अभिषेक किया। इसके साथ ही समारोह जो प्रारम्भ हुए तो १२ वर्षों तक चलते रहे।

दीक्षा–केवलज्ञान

जब सम्राट अरनाथ २१ सहस्र वर्षों तक अखिल भरतक्षेत्र का एकछत्र आधिपत्य भोग चुके, तो उनकी चिन्तन-प्रवृत्ति प्रमुखता पाने लगी और वे गम्भीरता-पूर्वक सासारिक सुखो और विषयो की असारता पर विचार करने लगे । सयम स्वीकार कर लेने की अभिलाषा उनके मन मे अगडाइयाँ लेने लगी। तभी लोकान्तिक देवो ने उनसे धर्मतीर्थ के प्रवर्तन हेतु प्रार्थनाएँ की। इससे सम्राट को अपने जीवन की भावी दिशा का स्पष्ट सकेत मिल गया और उन्होने समझ लिया कि अब उनके भोग-कर्म चुक गये हैं। अत तत्काल ही वे युवराज अरविन्द कुमार को सत्ता सौंपकर स्वय विरक्त हो गये और वर्षीदान करने लगे। वर्षभर तक उदारता के साथ प्रभु ने याचको को दान दिया और इसकी समाप्ति पर उनका दीक्षाभिषेक हुआ। तदनन्तर वैजयन्ती शिविका पर आरूढ होकर भगवान सहस्राम्र उद्यान मे पधारे। यहाँ आकर उन्होंने वैभव व भौतिक पदार्थों के अन्तिम अवशेष वस्त्रो एव आभूषणो का भी परित्याग कर दिया। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी का वह स्मरणीय दिन था जब भगवान ने षष्ठम भक्त तप मे सयम ग्रहण कर लिया। दीक्षा-ग्रहण के तुरन्त पश्चात् ही भगवान को मन पर्यवज्ञान का लाभ हो गया था।

आगामी दिवस प्रभु ने विहार किया और राजपुर पहुचे। वहाँ के भूपति अपराजित के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

राजपुर से प्रस्थान कर भगवान अरनाथजी अति विशाल क्षेत्र मे विहार करते हुए नाना भाँति के परीषह सहे और कठोर तप व साधनाएँ करते रहे। निद्रा-प्रमाद से वचित रहते हुए ध्यान की तीन वर्ष की साधना अवधि के पश्चात् भगवान का पुन हस्तिनापुर मे आगमन हुआ। उसी उद्यान मे, जो उनका दीक्षास्थल था, एक आम्रवृक्ष के नीचे प्रभु ध्यान लीन हो गये। कायोत्सर्गकर शुक्लध्यान की चरमस्थिति पर ज्यो ही भगवान पहुँचे कि उन्होने सभी घातिक कर्मों को विदीर्ण कर दिया। उन्हे केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

19

भगवान मल्लिनाथ

(चिन्ह—कलश)

जिनके चरण कमल शाति रूपी वृक्ष को सीचन मे अमृत के समान है, जिनका शरीर प्रियगुलता के समान सुन्दर है और जो कामदेव रूपी मधु दैत्य के लिए कृष्ण के समान वीर है—ऐसे हे मल्लिनाथप्रभु ! आपके चरण-कमलो की सेवा मुझे सदा सर्वदा प्राप्त हो ।

भगवान श्री मल्लिनाथ का तीर्थंकरो की परम्परा मे १९वा स्थान है। तीर्थंकर प्राय पुरुष रूप मे ही अवतरित होते हैं और अपवादस्वरूप स्त्रीरूप मे उनका अवतीर्ण होना एक आश्चर्य माना जाता है। अवसर्पिणी काल मे १९वे तीर्थंकर का स्त्रीरूप मे जन्म लेना भी इस काल के १० आश्चर्यों मे से एक है। इनके स्त्रीरूप मे अवतरण का विषय वैसे विवाद का विषय भी है। दिगम्बर परम्परा इन्हे स्त्री स्वीकार नही करती ।

पूर्व-जन्म

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह के सलिलावती विजय मे वीतशोका नगरी धन-धान्य से परिपूर्ण थी। इस सुन्दर राज्य के अधिपति किसी समय महाराजा महाबल थे। ये अत्यन्त योग्य, प्रतापी और धर्माचारी शासक थे। कमलश्री इनकी रानी का नाम था और उससे उन्हे बलभद्र नामक पुत्र की प्राप्ति हुई थी। वैसे महाराजा महाबल ने ५०० नृपकन्याओ के साथ अपना विवाह किया था तथापि उनके मन मे ससार के प्रति सहज अनासक्ति का भाव था, अत बलभद्र के युवा हो जाने पर उसे सिंहासनारूढ कर महाराजा महाबल ने धर्म-सेवा व आत्म-कल्याण का निश्चय कर लिया। इनके सुख-दुख के साथी बाल्यकाल के ६ मित्र* थे। इन मित्रो ने भी महाराजा का अनुसरण किया। सासारिक सतापो से मुक्ति के अभिलाषी महाबल ने जब सयम व्रत ग्रहण करने का निश्चय किया, तो उनके इन मित्रो ने न केवल इस विचार का समर्थन किया, अपितु इस नवीन मार्ग पर राजा के साथी बने रहने का अपना विचार व्यक्त किया अत इन सातो ने वरधर्म मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा प्राप्त कर सातो मुनियो ने यह निश्चय किया कि हम सब एक ही प्रकार की और एक ही

---

* १ धरण, २ पूरण, ३ वसु, ४ अचल ५ वैश्रवण, ६ अभिचन्द्र

भगवान के केवलज्ञान-लाभ से त्रिलोक मे एक प्रचण्ड आलोक फैल गया। आसन-कम्प से इन्द्र को सन्देश मिला कि भगवान अरनाथ केवली हो गये है। वह अन्य देवताओ सहित भगवान की स्तुति हेतु उपस्थित हुआ।

विशाल समवसरण रचा गया। प्रभु की प्रथम धर्मदेशना से लाभान्वित होने के लिए देव-मनुजो का ठाठ लग गया। भगवान की अमोघवाणी से असख्य प्राणी उद्-बोधित हुए और अनेक ने सयम स्वीकार कर लिया जो आत्मबल मे इतने उत्कृष्ट न थे, वे भी प्रेरित हुए और उन्होने धर्माराधना आरभ की। भगवान अरनाथ ने चतुर्विध धर्मसघ का प्रवर्तन किया और भाव तीर्थंकर व भाव अरिहन्त[1] कहलाए।

परिनिर्वाण

अज्ञानी जनो को [illegible] बोध कराते हुए भगवान ने भूमण्डल पर सतत विहार किया और असख्य नर-नारियो को आत्म कल्याण के मार्ग पर आरूढ किया। इस प्रकार ८४ हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर लेने पर उन्हे अपना निर्वाण-समय समीप अनुभव हुआ। भगवान ने एक हजार अन्य मुनियो सहित सम्मेत शिखर पर अनशनारभ किया। अन्तत शैलेशी दशा प्राप्त कर भगवान ने ४ अघातिकर्मो का सर्वथा क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र से निर्वाण पद का लाभ किया। इस प्रकार भगवान अरनाथ सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। वे निरजन, निराकार, सिद्ध बन गये।

धर्म-परिवार

गणधर	३३
केवली	२,८००
मन पर्यवज्ञानी	२,५५१
अवधिज्ञानी	२,६००
चौदह पूर्वधारी	६१०
वैक्रियलब्धिधारी	७,३००
वादी	१,६००
साधु	५०,०००
साध्वी	६०,०००
श्रावक	१,८४,०००
श्राविका	३,७२,०००

१ भाव अरिहन्त निम्नांकित १८ आत्मिक दोषो से मुक्त होते है—
१ ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान दोष—२ दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा दोष—३ मोहकर्मजन्य मिथ्यात्व दोष—४ अविरति दोष—५ राग—६ द्वेष—७ हास्य—८ रति—९ अरति-खेद—१० भय—११ शोक-चिंता—१२ दुगुन्छा—१३ काम—१४-१८ दानान्तराय आदि ५ अतराय दोष।

19

भगवान मल्लिनाथ

(चिन्ह—कलश)

जिनके चरण कमल शांति रूपी वृक्ष को सींचने मे अमृत के समान है, जिनका शरीर प्रियंगुलता के समान सुन्दर है और जो कामदेव रूपी मधु दैत्य के लिए कृष्ण के समान वीर है—ऐसे हे मल्लिनाथप्रभु ! आपके चरण-कमलो की सेवा मुझे सदा सर्वदा प्राप्त हो।

भगवान श्री मल्लिनाथ का तीर्थंकरो की परम्परा मे १९वा स्थान है। तीर्थंकर प्राय पुरुष रूप मे ही अवतरित होते है और अपवादस्वरूप स्त्रीरूप मे उनका अवतीर्ण होना एक आश्चर्य माना जाता है। अवसर्पिणी काल मे १९वे तीर्थंकर का स्त्रीरूप मे जन्म लेना भी इस काल के १० आश्चर्यो मे से एक है। इनके स्त्रीरूप मे अवतरण का विषय वैसे विवाद का विषय भी है। दिगम्बर परम्परा इन्हे स्त्री स्वीकार नहीं करती।

पूर्व-जन्म

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह के सलिलावती विजय मे वीतशोका नगरी धन-धान्य से परिपूर्ण थी। इस सुन्दर राज्य के अधिपति किसी समय महाराजा महाबल थे। ये अत्यन्त योग्य, प्रतापी और धर्माचारी शासक थे। कमलश्री इनकी रानी का नाम था और उससे उन्हे बलभद्र नामक पुत्र की प्राप्ति हुई थी। वैसे महाराजा महाबल ने ५०० नृपकन्याओ के साथ अपना विवाह किया था तथापि उनके मन में ससार के प्रति सहज अनासक्ति का भाव था, अत बलभद्र के युवा हो जाने पर उसे सिंहासनारूढ कर महाराजा महाबल ने धर्म-सेवा व आत्म-कल्याण का निश्चय कर लिया। इनके सुख-दुःख के साथी बाल्यकाल के ६ मित्र* थे। इन मित्रो ने भी महाराजा का अनुसरण किया। सासारिक सतापो से मुक्ति के अभिलाषी महाबल ने जब सयम व्रत ग्रहण करने का निश्चय किया, तो उनके इन मित्रो ने न केवल इस विचार का समर्थन किया, अपितु इस नवीन मार्ग पर राजा के साथी बने रहने का अपना विचार व्यक्त किया अत इन सातो ने वरधर्म मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा प्राप्त कर सातो मुनियो ने यह निश्चय किया कि हम सब एक ही प्रकार की और एक ही

---

* १ धरण, २ पूरण, ३. वसु, ४ अचल ५ वैश्रवण, ६ अभिचन्द्र

समान तपस्या करेंगे। कुछ काल तक तो उनका यह निश्चय क्रियान्वित होता रहा, किंतु मुनि महाबल ने कालान्तर मे यह सोचा कि इस प्रकार एकसा फल सभी को मिलने के कारण मैं भी इनके समान ही हो जाऊँगा। फिर मेरा इनसे भिन्न, विशिष्ट और उच्च महत्त्व नही रह जायगा। इस कारण गुप्त रीति से वे अतिरिक्त साधना एव तप भी करने लगे। जब अन्य ६ मुनि पारणा करते तो ये उस समय पुन तपरत हो जाते। इस प्रकार छद्मरूप मे तप करने के कारण स्त्रीवेद का बन्ध कर लिया। किंतु साथ ही साथ २० स्थानो की आराधना के फलरूप मे उन्होने तीर्थंकर नामकर्म भी अर्जित किया। सातो मुनियो ने ८४ हजार वर्ष की दीर्घावधि तक सयम पर्याय का पालन किया। अन्तत समाधिपूर्वक देह त्याग कर जयन्त नामक उनुत्तर विमान मे ३२ सागर आयु के अहमिन्द्र देव के रूप मे उत्पन्न हुए।

माया या कपट धर्म-कर्म मे अनुचित तत्त्व है। इसी माया का आश्रय मुनि महाबल ने लिया था और उन्होने इसका प्रायश्चित्त भी नही किया। अत उनका स्त्रीवेद कर्म स्थगित नही हुआ। कपट-भाव से किया गया जप-तप भी मिथ्या हो जाता है। उसका परिणाम शून्य ही रह जाता है।

जन्म-वंश

जम्बूद्वीप के विदेह देश मे एक नगरी थी—मिथिलापुरी। किसी समय मिथिला पुरी मे महाराजा कुंभ का शासन था, जिनकी रानी प्रभावती देवी अत्यन्त शीलवती महिला थी। फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी को अश्विनी नक्षत्र मे मुनि महाबल का जीव अनुत्तर विमान से अवरोहित होकर रानी प्रभावती के गर्भ मे आया। भावी महापुरुषो और तीर्थंकरो की जननी के योग्य १४ महास्वप्न देखकर माता प्रभावती अत्यन्त उल्लसित हुई। पिता महाराजा कुभ को भी अत्यन्त हर्ष हुआ। माता को दोहद (गर्भ वती स्त्री की तीव्र इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'उन स्त्रियो का अहोभाग्य है जो पचवर्णीय पुष्प-शय्या पर शयन करती है तथा चम्पा, गुलाब आदि पुष्पो की सौरभ का आनन्द लेती हुई विचरती है।' राजा के द्वारा रानी का यह दोहद पूर्ण किया गया।

गर्भावधि पूर्ण होने पर मृगशिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र मे ही माता प्रभावती ने एक अनुपम सुन्दरी और मृदुगात्रा कन्या को जन्म दिया। ये ही १९वे तीर्थंकर थे जिन्होने पुत्री रूप मे (अपवादस्वरूप) जन्म लिया। माता को पुष्प शैय्या का दोहद हुआ था जिसमे मालती पुष्पो की अधिकता (प्रधानता) थी और देवताओ द्वारा दोहद पूर्ण किया गया था, अत बालिका का नाम 'मल्ली' रखा गया।

रूप-ख्याति

अभिजात कन्या जन्म से ही अत्यन्त रूपवती थी। उसका अग-प्रत्यग शोभा का जैसे अमित कोष था। सर्वगुण सम्पन्ना राजकुमारी मल्ली ज्यो-ज्यो आयु प्राप्त करती जा रही थी, त्यो-त्यो उसके लावण्य और आकर्षण मे उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती

लावण्यवती पत्नी मिलेगी। उस प्रतिमा को वे सभी राजा मल्ली कुमारी समझ रहे थे। मन ही मन वे अपनी इस भावी पत्नी के सौन्दर्य की प्रशसा कर रहे थे और अपने भाग्य पर इठला रहे थे। तभी भगवती (मल्ली कुमारी) गुप्त मार्ग से पीठिका तक पहुँची। राजा आश्चर्यचकित रह गये। वे समझ नही पा रहे थे कि ये दो-दो मल्ली कुमारियाँ कैसे आ गयी। रहस्य उन्हें कुछ भी स्पष्ट नही हो पा रहा था। वे इस विचित्र परिस्थिति मे डूबते-उतराते ही जा रहे थे कि भगवान ने स्वर्ण प्रतिमा का कमलाकार किरीट हटा दिया। मोहनगृह का सुरम्य और सरस वातावरण क्षण मात्र मे ही भयकर दुर्गन्ध के रूप मे परिवर्तित हो गया।

प्रतिमा के कपाल का छिद्र ज्यो ही अनावृत हुआ, उसके उदरस्थ अन्न की सडाध सभी कक्षो मे फैल गयी। तीव्र दुर्गंध के मारे छहो राजाओ का बुरा हाल हो गया। उनका जी मिचलाने लगा और व्याकुल होकर त्राहि-त्राहि करने लगे। उन्होंने प्रतिमा की ओर से मुँह मोड लिया।

मल्ली ने उन्हें सम्बोधित कर प्रश्न किया कि 'मेरे सौन्दर्य पर आसक्त थे आप लोग तो, फिर सहसा मुझसे विमुख क्यो हो गये ?'

राजाओ ने एक स्वर से उत्तर दिया कि तुम्हारा दर्शन तो मनोमुग्धकारी है, अपार आनद उपजाता है। लेकिन नासिका का अनुभव अत्यत वीभत्स है। यह भयकर दुर्गंध सहन नही होती। हमे कोई मार्ग नही मिल पा रहा है। कोई हमे इस कक्ष से बाहर निकाले तो इस यातना से मुक्ति मिले। हमारा दम घुट रहा है। तभी भगवान ने उन्हे बोध दिया। इस आकर्षक, लावण्ययुक्त स्वर्ण प्रतिमा मे से ही असह्य दुर्गंध निकल रही है। इसके उदर मे प्रतिदिन एक-एक ग्रास अन्न पहुँचा है, जो विकृत होकर तुम्हारे मन मे ग्लानि उत्पन्न कर रहा है। मेरा यह कचन-सा शरीर भी रक्त-मज्जादि सप्त धातुओ का सगठन मात्र है, जो तुम्हारे लिए मोह और आसक्ति का कारण बना हुआ है। किंतु यह बाह्य विशेषताएँ असार हैं, अवास्तविक हैं। माता-पिता के रज-वीर्य के सयोग का परिणाम यह शरीर भीतर से मलिन है, अशुचि रूप है। पवित्र अन्न भी इस शरीर के सम्पर्क मे आकर विकारयुक्त और घृणोत्पादक हो जाता है, मल मे परिवर्तित हो जाता है। ऐसे शरीर की मोहिनी पर जोकि सर्वथा मिथ्या है, प्रवचना है—आसक्त होना क्या विवेक का परिचायक है ? अपने पूर्वभव का ध्यान कर आप आत्म-कल्याण मे प्रवृत्त क्यो नही होते ?

विषयाधीन इन राजाओ के ज्ञान-नेत्र खुल गये। उन्होंने भगवान की वाणी से प्रभाव ग्रहण किया। सभी कक्षो के द्वार उन्मुक्त कर दिये गये और राजागण बाहर निकले। अपने अज्ञान और उसके वशीभूत होकर किये गये कर्मों पर वे लज्जित होने लगे। उन्होंने मल्लीकुमारी का उपकार स्वीकार किया कि उनकी नरक की घोर यातनाओ से रक्षा हो गयी। उन्होंने मल्लीकुमारी से कल्याणकारी मार्ग बताने का निवेदन किया।

[illegible] हुआ । उसे राष्ट्र-रक्षा का मार्ग नही दिखाई देता था । विपत्ति की इस भयकर [illegible]डी मे राजकुमारी मल्ली ने राजा को सहारा दिया, उसे आश्वस्त किया कि वह युद्ध को टाल देगी और इस प्रकार राज्य सम्भावित विध्वस से बच जायगा। राजा ने प्रथमत उसे कुमारी का बाल-चापल्य ही समझा, किन्तु राजकुमारी ने जब पूरी योजना [illegible] अवगत किया तो उसे कुछ विश्वास हो गया ।

[illegible] राजकुमारी मल्ली तो एक कारण विशेष से स्त्री रूप मे उत्पन्न हुई थी, अन्यथा वह तो तीर्थंकरत्व की समस्त क्षमता से युक्त ही थी । भगवती मल्ली ने अपने [illegible]ज्ञान [illegible] ज्ञात कर लिया कि ये ६ राजा और कोई नही—उसके पूर्व भव के [illegible] मित्र ही थे, जिनके साथ उन्होने मुनि महाबल के भव मे तप के प्रसग मे माया-मिश्रित व्यवहार किया था । राजकुमारी पहले से ही इस सकट के विषय मे परिचित थी । निदानार्थ उसने राजधानी मे एक मोहन-गृह निर्मित करवाया था, जिसके [illegible] कक्ष थे । इन कक्षो के ठीक मध्य मे उसने एक मणिमय पीठिका बनवायी और उस पर अपनी ही पूर्ण आकार की स्वर्ण-पुत्तलिका निर्मित करवायी थी । इस प्रतिमा के मस्तक पर कमल की आकृति का किरीट था । इस किरीट को पृथक किया जा सकता था । प्रतिमा के कपाल मे एक छिद्र था, जो तालु के पार होकर उदर तक चला गया था और भीतर से उदर खुला था । इस सारी सरचना के पीछे एक विशेष योजना थी, जिसका उद्देश्य मल्लीकुमारी द्वारा इन छह राजाओ के रूप मे अपने पूर्वभव के मित्रो [illegible] प्रतिबोध कराने का था । मल्लीकुमारी प्रतिदिन इस स्वर्ण प्रतिमा का कमल किरीट हटाकर [illegible] भोजन का एक ग्रास उसके उदर मे डाल देती थी और किरीट [illegible] रख देती थी । इस प्रतिमा को चारो ओर से घेरकर जो दीवार बनवाई [illegible] थी उसमे ६ द्वार (६ कक्षो के) इस प्रकार बने हुए थे कि एक द्वार से निकल कर आगे [illegible] व्यक्ति केवल प्रतिमा का ही दर्शन कर पाए, वह अन्य द्वार या उससे आगे [illegible] नही देख पाए ।

[illegible] मल्ली पहले ही कर चुकी थी । अब योजनानुसार राजकुमारी ने [illegible] निवेदन किया कि आक्रामक नरेशो मे से प्रत्येक को पृथक-पृथक रूप [illegible] दीजिए कि राजकुमारी उसके साथ विवाह करने को तैयार है—वह [illegible] । [illegible] कार्य सिद्ध होने न देखकर भी राजा छल से काम नही लेने [illegible] और मल्ली ने उसे बोध दिया कि यह व्यवहार छल नही मात्र एक [illegible] ।

[illegible] दिया गया । [illegible] पृथक-पृथक [illegible] सदेश [illegible] गये । फलत युद्ध सर्वथा टल गया । अलग-अलग समय मे एक-एक राजा [illegible] किया गया और उन्हे उस मोहन-गृह के एक-एक कक्ष मे पहुँचा दिया गया । [illegible] भी राजा को शेष राजाओ की स्थिति के विषय मे कुछ भी ज्ञान न था । उनमे [illegible] स्वय को अन्यो की अपेक्षा उत्तम भाग्यशाली समझ रहा था कि उसे ऐसी

लावण्यवती पत्नी मिलेगी। उस प्रतिमा को वे सभी राजा मल्ली कुमारी समझ रहे थे। मन ही मन वे अपनी इस भावी पत्नी के सौन्दर्य की प्रशसा कर रहे थे और अपने भाग्य पर इठला रहे थे। तभी भगवती (मल्ली कुमारी) गुप्त मार्ग से पीठिका तक पहुँची। राजा आश्चर्यचकित रह गये। वे समझ नही पा रहे थे कि ये दो-दो मल्ली कुमारियाँ कैसे आ गयी। रहस्य उन्हे कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। वे इस विचित्र परिस्थिति मे डूबते-उतराते ही जा रहे थे कि भगवान ने स्वर्ण प्रतिमा का कमलाकार किरीट हटा दिया। मोहनगृह का सुरम्य और सरस वातावरण क्षण मात्र मे ही भयकर दुर्गन्ध के रूप मे परिवर्तित हो गया।

प्रतिमा के कपाल का छिद्र ज्यो ही अनावृत हुआ, उसके उदरस्थ अन्न की सडाध सभी कक्षो मे फैल गयी। तीव्र दुर्गंध के मारे छहो राजाओ का बुरा हाल हो गया। उनका जी मिचलाने लगा और व्याकुल होकर त्राहि-त्राहि करने लगे। उन्होंने प्रतिमा की ओर से मुँह मोड लिया।

मल्ली ने उन्हें सम्बोधित कर प्रश्न किया कि 'मेरे सौन्दर्य पर आसक्त थे आप लोग तो, फिर सहसा मुझसे विमुख क्यो हो गये ?'

राजाओ ने एक स्वर से उत्तर दिया कि तुम्हारा दर्शन तो मनोमुग्धकारी है, अपार आनद उपजाता है। लेकिन नासिका का अनुभव अत्यत वीभत्स है। यह भयकर दुर्गंध सहन नही होती। हमे कोई मार्ग नही मिल पा रहा है। कोई हमे इस कक्ष से बाहर निकाले तो इस यातना से मुक्ति मिले। हमारा दम घुट रहा है। तभी भगवान ने उन्हे बोध दिया। इस आकर्षक, लावण्ययुक्त स्वर्ण प्रतिमा मे से ही असह्य दुर्गंध निकल रही है। इसके उदर मे प्रतिदिन एक-एक ग्रास अन्न पहुँचा है, जो विकृत होकर तुम्हारे मन मे ग्लानि उत्पन्न कर रहा है। मेरा यह कचन-सा शरीर भी रक्त-मज्जादि सप्त धातुओ का सगठन मात्र है, जो तुम्हारे लिए मोह और आसक्ति का कारण बना हुआ है। किंतु यह बाह्य विशेषताएँ असार हैं, अवास्तविक हैं। माता-पिता के रज-वीर्य के सयोग का परिणाम यह शरीर भीतर से मलिन है, अशुचि रूप है। पवित्र अन्न भी इस शरीर के सम्पर्क मे आकर विकारयुक्त और घृणोत्पादक हो जाता है, मल मे परिवर्तित हो जाता है। ऐसे शरीर की मोहिनी पर जोकि सर्वथा मिथ्या है, प्रवचना है—आसक्त होना क्या विवेक का परिचायक है ? अपने पूर्वभव का ध्यान कर आप आत्म-कल्याण मे प्रवृत्त क्यो नही होते ?

विषयाधीन इन राजाओ के ज्ञान-नेत्र खुल गये। उन्होंने भगवान की वाणी से प्रभाव ग्रहण किया। सभी कक्षो के द्वार उन्मुक्त कर दिये गये और राजागण बाहर निकले। अपने अज्ञान और उसके वशीभूत होकर किये गये कर्मो पर वे लज्जित होने लगे। उन्होने मल्लीकुमारी का उपकार स्वीकार किया कि उनकी नरक की घोर यातनाओ से रक्षा हो गयी। उन्होंने मल्लीकुमारी से कल्याणकारी मार्ग बताने का निवेदन किया।

आश्वासन देकर प्रभु ने उनके उद्विग्न चित्तो को शात किया और कहा कि मैं तो आत्म-कल्याण के प्रयोजन से चारित्र स्वीकार करना चाहता हूँ। तुम मेरे पूर्वभव के मित्र और सहकर्मी रहे हो। यदि चाहो तो तुम भी विरक्त होकर इस मार्ग का अनुसरण करो। इस उपकार-भार से नमित राजाओ ने आत्म-कल्याण का अमोघ साधन मानकर चारित्र स्वीकार करने की सहमति दी।

भगवान चारित्रधर्म स्वीकार कर तीर्थंकरत्व की ओर अग्रसर होने का सकल्प कर ही चुके थे। इधर लोकान्तिक देवो ने भगवान से प्रार्थना भी की, जिससे भगवान ने अपना विचार और भी प्रबलतर कर लिया।

दीक्षा-केवलज्ञान

अब भगवान वर्षीदान मे प्रवृत्त हुए और मुक्तहस्ततापूर्वक दान करने लगे। इसके सम्पन्न हो जाने पर इन्द्रादि देवो ने प्रभु का दीक्षाभिषेक किया और तत्पश्चात भगवान ने गृह-त्याग कर दिया। निष्क्रमण कर वे जयन्त नामक शिविका मे सहस्राम्रवन पधारे। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को भगवान मल्लि ने ३०० स्त्रियो और १००० पुरुषो के साथ सयम स्वीकार कर लिया। दीक्षा-ग्रहण के तुरन्त पश्चात् उन्हे मन पर्यवज्ञान की उपलब्धि हो गयी थी। प्रभु का प्रथम पारणा राजा विश्वसेन के यहाँ हुआ।

दीक्षा लेते ही उसी दिन मन पर्यवज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवती मल्ली उसी सहस्राम्रवन मे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानलीन हो गयी। विशिष्ट उल्लेख्य विन्दु यह है कि भगवान दीक्षा के दिन ही केवली भी बन गये थे। शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओ के द्वारा अपूर्वकरण मे उन्होने प्रवेश कर लिया, जिसमे ज्ञानावरण आदि का क्षय कर देने की क्षमता होती है। अत्यन्त त्वरा के साथ आठवे, नौवे, दसवें और बारहवे गुणस्थान को पार उन्होने केवलज्ञान-केवलदर्शन का लाभ प्राप्त कर लिया। पूर्वकथनानुसार यह तिथि दीक्षा की ही मृगशिर शुक्ला एकादशी की तिथि थी। केवलज्ञान मे ही आपका प्रथम-पारणा सम्पन्न हुआ था।

प्रथम देशना

केवली भगवान मल्लिनाथ के समवसरण की रचना हुई। भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना मे ही अनेक नर-नारियो को प्रेरित कर आत्म कल्याण के मार्ग पर आरूढ कर दिया। देशना द्वारा प्रभावित होकर भगवान के माता-पिता महाराजा कुभ और रानी प्रभावती देवी ने श्रावक धर्म स्वीकार किया और विवाहाभिलाषी जितशत्रु आदि छहो राजाओं ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। आपने चतुर्विध धर्मसघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर की गरिमा प्राप्त की। ५५ हजार वर्षों तक विचरणशील रहकर भगवान ने धर्म शिक्षा का प्रचार किया और असख्य जनो को मोक्ष-प्राप्ति की समर्थता उपलब्ध करायी।

परिनिर्वाण

अपने अन्त समय का आभास पाकर भगवान ने सथारा लिया और चैत्र शुक्ला चतुर्थी की अर्धरात्रि मे भरणी नक्षत्र के शुभ योग मे, चार अघातिकर्मों का क्षय किया एव निर्वाणपद प्राप्त कर लिया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	२८
केवली	२,२०० ✓
मन पर्यवज्ञानी	१,७५०
अवधिज्ञानी	२,२००
चौदह पूर्वधारी	६६८
वैक्रियलब्धिधारी	२,६००
वादी	१,४००
साधु	४०,०००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	२,०००
साध्वी	५५,०००
श्रावक	१,८३,००० ✓
श्राविका	३,७०,००० ✓

□□

आश्वासन देकर प्रभु ने उनके उद्विग्न चित्तो को शात किया और कहा कि मैं तो आत्म-कल्याण के प्रयोजन से चारित्र स्वीकार करना चाहता हूँ। तुम मेरे पूर्वभव के मित्र और सहकर्मी रहे हो। यदि चाहो तो तुम भी विरक्त होकर इस मार्ग का अनुसरण करो। इस उपकार-भार से नमित राजाओ ने आत्म-कल्याण का अमोघ साधन मानकर चारित्र स्वीकार करने की सहमति दी।

भगवान चारित्रधर्म स्वीकार कर तीर्थंकरत्व की ओर अग्रसर होने का सकल्प कर ही चुके थे। इधर लोकान्तिक देवो ने भगवान से प्रार्थना भी की, जिससे भगवान ने अपना विचार और भी प्रबलतर कर लिया।

दीक्षा-केवलज्ञान

अब भगवान वर्षीदान मे प्रवृत्त हुए और मुक्तहस्ततापूर्वक दान करने लगे। इसके सम्पन्न हो जाने पर इन्द्रादि देवो ने प्रभु का दीक्षाभिषेक किया और तत्पश्चात भगवान ने गृह-त्याग कर दिया। निष्क्रमण कर वे जयन्त नामक शिविका मे सहस्राम्रवन पधारे। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को भगवान मल्लि ने ३०० स्त्रियो और १००० पुरुषो के साथ सयम स्वीकार कर लिया। दीक्षा-ग्रहण के तुरन्त पश्चात् उन्हे मन·पर्यवज्ञान की उपलब्धि हो गयी थी। प्रभु का प्रथम पारणा राजा विश्वसेन के यहाँ हुआ।

दीक्षा लेते ही उसी दिन मन पर्यवज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवती मल्ली उसी सहस्रम्रवन मे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानलीन हो गयी। विशिष्ट उल्लेख्य बिन्दु यह है कि भगवान दीक्षा के दिन ही केवली भी बन गये थे। शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओ के द्वारा अपूर्वकरण मे उन्होंने प्रवेश कर लिया, जिसमे ज्ञानावरण आदि का क्षय कर देने की क्षमता होती है। अत्यन्त त्वरा के साथ आठवें, नौवें, दसवें और बारहवे गुणस्थान को पार उन्होने केवलज्ञान-केवलदर्शन का लाभ प्राप्त कर लिया। पूर्वकथनानुसार यह तिथि दीक्षा की ही मृगशिर शुक्ला एकादशी की तिथि थी। केवलज्ञान मे ही आपका प्रथम-पारणा सम्पन्न हुआ था।

प्रथम देशना

केवली भगवान मल्लिनाथ के समवसरण की रचना हुई। भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना मे ही अनेक नर-नारियो को प्रेरित कर आत्म कल्याण के मार्ग पर आरूढ कर दिया। देशना द्वारा प्रभावित होकर भगवान के माता-पिता महाराजा कुभ और रानी प्रभावती देवी ने श्रावक धर्म स्वीकार किया और विवाहाभिलाषी जितशत्रु आदि छहो राजाओ ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। आपने चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना कर भावि तीर्थंकर की गरिमा प्राप्त की। ५५ हजार वर्षो तक विचरणशील रहकर भगवान ने धर्म शिक्षा का प्रचार किया और असख्य जनो को मोक्ष-प्राप्ति की समर्थता उपलब्ध करायी।

भगवान मुनिसुव्रत

(चिन्ह—कूर्म = कछुआ)

हे भगवान ! आप मायारहित महातेजस्वी है। आपने अपनी तपस्या से महामुनियो को भी चकित कर दिया था। जैसे पति-पत्नी से मिलता है—वैसे ही आपने उत्तम व्रत के पालन द्वारा मुक्ति-सुन्दरी को प्राप्त किया है। प्रभो ! मै भी ससार को नष्ट कर सकूं—ऐसी शक्ति मुझे प्रदान कीजिए।

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी २०वे तीर्थंकर के रूप मे अवतरित हुए है। इनके इस जन्म की महान उपलब्धियो का आधार भी पूर्व जन्म-जन्मान्तरो का सुसस्कार-समुच्चय ही था।

पूर्वजन्म

प्राचीन काल मे सुरश्रेष्ठ नाम का एक राजा चम्पा नगरी मे राज्य करता था जो अपनी धार्मिक प्रवृत्ति, दानशीलता एव पराक्रम के लिए ख्यातनामा था। सहज ही मे उसने क्षेत्र के समस्त राजाओ से अपनी अधीनता स्वीकार करा ली थी और इस प्रकार वह विशाल साम्राज्य की सत्ता का भोक्ता रहा। प्रसग तब का है जब नन्दन मुनि ने उसके राज्य मे प्रवेश किया था। मुनि उद्यान मे विश्राम करने लगे। राजा सुरश्रेष्ठ को ज्ञात होने पर वह मुनि-दर्शन एव वन्दन हेतु उद्यान मे आया। मुनिश्री की वाणी का उस पर गहरा प्रभाव हुआ। विरक्ति का अति सशक्त भाव उसके मन मे उदित हुआ और सासारिक सम्बन्धो, विषयो एव भौतिक पदार्थो को वह असार मानने लगा। आत्म-कल्याण के लिए दीक्षा ग्रहण करने के प्रयोजन से राजा ने तुरन्त राज्य-वैभव आदि का त्याग कर दिया और सयम स्वीकार कर लिया। अपनी तपस्याओ के परिणामस्वरूप सुरश्रेष्ठ मुनि ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया एव अनशन तथा समाधि मे देहत्याग कर वे अपराजित विमान मे अहमिन्द्र देव बने। सक्षेप मे यही भगवान मुनिसुव्रत के पूर्वभव की कथा है।

जन्म-वंश

मगध देश के अन्तर्गत राजगृह नगर नाम का एक राज्य था। उस समय राजगृह मे महाराज सुमित्र का शासन था। उनकी धर्मपत्नी महारानी पद्मावती अतीव लावण्यवती एव सर्वगुणो से सम्पन्न थी। ये ही रानी-राजा भगवान मुनिसुव्रत के

गुहा उद्यान मे पधारे, जहाँ सासारिक विभूति के शेप चिन्ह आभूपण, वस्त्रादि का भी भगवान ने स्वतः परित्याग कर दिया। षष्ठ भक्त तप मे उन्होने एक सहस्र अन्य राजाओ सहित चारित्र स्वीकार किया। भगवान की यह दीक्षा-ग्रहण तिथि फाल्गुन शुक्ला द्वादशी थी व श्रवण नक्षत्र की शुभ वेला थी। भगवान मुनिसुव्रत को चारित्र स्वीकार करते ही मन पर्यवज्ञान का लाभ हो गया। आगामी दिवस प्रभु का प्रथम पारणा राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ क्षीरान्न के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पांच दिव्यो की वर्षा कर देवताओ ने दान की महिमा प्रकट की।

पारणा करने के पश्चात् प्रभु ने राजगृही से विहार किया और विविध परीपहो एव अभिग्रहो को समभाव के साथ झेलते हुए वे ११ मास तक ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे, अनेक विध बाह्य व आन्तरिक तपो और साघनाओ मे सलग्न रहे। अन्तत वे पुन उसी उपवन मे लौटे जो उनका दीक्षास्थल रहा था। वहाँ चम्पा वृक्ष के तले वे ध्यानलीन हो गये। शुक्लध्यान की चरम स्थिति मे पहुँचकर भगवान ने सकल घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। परिणामस्वरूप उन्हे केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी। इन्द्रादिक देव भगवान के अभिनन्दनार्थ एकत्रित हुए। उन्होने परम उल्लास के साथ भगवान के केवलज्ञान का महोत्सव आयोजित किया।

केवली भगवान मुनिसुव्रत का समवसरण रचा गया और असख्य नर-नारी आत्म-कल्याण का मार्ग पाने की अभिलाषा से भगवान की प्रथम देशना का श्रवण करने को एकत्रित हुए। इस महत्त्वपूर्ण देशना मे भगवान ने मुनि और श्रावक के लक्षणो का विवेचन किया। भगवान की वाणी मे अमोघ प्रभाव था। आपके उपदेश से प्रेरित होकर अनेक-जन दीक्षित हो गये, अनेक ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और अनेक ने श्रावकधर्म स्वीकार कर लिया।

परिनिर्वाण

केवली बन जाने के पश्चात् भगवान ने जन-जन को आत्म-कल्याण के मार्गानुसरण हेतु प्रेरित करने का व्यापक अभियान चलाया। इस हेतु वे लगभग साढ़े सात हजार वर्ष तक जनपद मे सतत रूप से विचरण करते हुए उपदेश देते रहे अन्तत अपने मोक्षकाल के समीप आने पर भगवान एक सहस्र मुनिजन सहित सम्मेत शिखर पर पधारे और ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को श्रवण नक्षत्र मे अनशनपूर्वक मकल कर्मों का क्षय कर उन्होने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी ने कुल ३० हजार वर्ष का आयुष्य पाया था।

धर्म-परिवार

गणधर	१८
केवली	१,८००

भगवान नमिनाथ

(चिन्ह—*कमल*)

कामदेव रूपी मेघ को दूर करने मे महापवन समान, हे नमिनाथजिन ! मेरे पापो को नष्ट करो। इन्द्रगण भी आपकी सेवा करते है, आपका शरीर कामदेव के समान सुन्दर है। सम्यक् आगम ही आपके सिद्धान्त है और सदा-सर्वदा शाश्वत है।

भगवान नमिनाथ स्वामी २१वें तीर्थंकर हुए है। आपका अवतरण २०वें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत भगवान के लगभग ६ लाख वर्ष पश्चात् हुआ था।

पूर्वजन्म

पश्चिम विदेह मे एक इतिहास-प्रसिद्ध नगरी थी—कौशाम्बी। आदर्श आचरण और न्यायोचित व्यवहार करने वाला नृपति सिद्धार्थ उन दिनो वहाँ राज्य करता था। वह प्रजा-पालन मे तन-मन-धन से सलग्न रहता था, किन्तु यह सब कुछ वह मात्र कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए किया करता था। उसका मन तो अनासक्ति के प्रबल भावो का केन्द्र था। उसकी चिर-सचित अभिलाषा भी एक दिन पूर्ण हुई। राजा ने सुदर्शन मुनि के पास विधिवत् सयम स्वीकार कर लिया। अपनी उत्कृष्ट तप-साधना के बल पर महाराजा सिद्धार्थ ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। आयु के अन्त मे सिद्धार्थ मुनि समाधिपूर्वक देह-त्याग कर अपराजित विमान मे ३३ सागर की आयु की आयुष्य वाले देव रूप मे उत्पन्न हुए।

जन्म-वंश

उन दिनो स्वर्ग तुल्य मिथिला नगरी मे विजयसेन नाम के नरेश राज्य कर रहे थे। उनकी अत्यन्त शीलवती, सद्गुणी रानी का नाम वप्रादेवी था। ये ही भगवान नमिनाथ के माता-पिता थे। सिद्धार्थ मुनि का जीव अपराजित विमान का आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से निकला और रानी वप्रादेवी के गर्भ मे भावी तीर्थंकर के रूप मे स्थिर हुआ। वह शरदपूर्णिमा के (अश्विन शुक्ला पूर्णिमा) पुनीत रात्रि थी, उस समय अश्विनी नक्षत्र का शुभ योग था। गर्भधारण की रात्रि मे रानी वप्रादेवी ने १४ मगल-कारी स्वप्नो का दर्शन किया, जो उसके तीर्थंकर की जननी होने का पूर्व सकेत था। सकेत के आशय को हृदयगम कर रानी और राजा अतिशय हर्षित हुए।

श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र मे ही रानी ने नीलकमल की आभा

दीक्षा-ग्रहण : केवलज्ञान

उन्होंने आत्म-कल्याण के लिए [illegible] संयम स्वीकार करने के लिए कामना व्यक्त की। उसी समय लोकान्तिक देवों ने भी भगवान से धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन हेतु विनय की। इससे विरक्ति का भाव और अधिक उज्ज्वल हो उठा। महाराजा नमिनाथ अपने पुत्र सुप्रभ को समस्त अधिकार व सम्पत्ति सौंपकर वर्षीदान करने लगे। सतत रूप से हो रही इस दान की अवधि-समाप्ति पर भगवान सहस्राम्रवन में पधारे। आषाढ कृष्णा नवमी को भगवान ने यहाँ एक हजार राजपुरुषों सहित दीक्षा ग्रहण कर ली। मिथिला से प्रस्थान पर अगले ही दिन भगवान वीरपुर पहुँचे जहाँ राजा दत्त के यहाँ प्रथम पारणा हुआ।

भगवान का साधक जीवन दीर्घ नहीं रहा। उग्र तपश्चर्याओं, दृढ़ साधनाओं के बल पर उन्हें मात्र ९ मास की अवधि में ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी। इस सारी अवधि में वे छद्मस्थरूप में जनपद में विचरण करते रहे। अनेकानेक उपसर्ग और

परीपहो को धैर्य और समभाव के साथ झेलते रहे, अपनी विभिन्न साधनाओ को उत्तरोत्तर आगे बढाते रहे। प्रभु अन्तत दीक्षास्थल (सहस्राम्रवन) पर लौट आये। मोरसली वृक्ष के नीचे उन्होने छट्ठ भक्त तप किया और ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान के चरम चरण मे पहुँच कर प्रभु ने समस्त घातिककर्मों को क्षीण कर दिया और केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर अरिहत पद को उन्होने विभूपित किया। वह पवित्र तिथि मृगशिर शुक्ला एकादशी थी।

भगवान का दिव्य समवसरण रचा गया। प्रथम धर्मदेशना का लाभ लेने को असख्य देवासुर-मानव एकत्रित हुए। अपनी देशना मे उन्होंने 'आगारधर्म' और 'अनगारधर्म' की मर्मस्पर्शी व्याख्या की। असख्य जन प्रतिबुद्ध हुए। हजारो नर-नारियो ने अनगारधर्म स्वीकार करते हुए सयम ग्रहण किया। लाखो ने 'आगारधर्म' अर्थात् 'श्रावकधर्म' अगीकार किया। भगवान चतुर्विध सघ स्थापित कर भाव तीर्थंकर कहलाए।

परिनिर्वाण

लगभग ढाई हजार वर्ष तक केवली भगवान नमिनाथ ने जनपद मे विचरण करते हुए अपनी प्रेरक शिक्षाओ द्वारा असख्य भव्यो का कल्याण किया। अन्तत अपना निर्वाण-समय आया अनुभव कर वे सम्मेत शिखर पधारे, जहाँ एक मास के अनशन व्रत द्वारा अयोगी और शैलेशी अवस्था प्राप्त कर ली। इस प्रकार भगवान ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त दशा मे निर्वाण पद को प्राप्त किया। भगवान की निर्वाण तिथि बैशाख कृष्णा दशमी थी, वह शुभ बेला अश्विनी नक्षत्र की थी। निर्वाण-प्राप्ति के समय भगवान नमिनाथ की वय १० हजार वर्ष की थी। वे अपने पीछे विशाल धर्म-परिवार छोडकर मोक्ष पधारे थे।

धर्म-परिवार

गणधर	१७
केवली	१,६००
मन पर्यवज्ञानी	१,२०८
अवधिज्ञानी	१,६००
चौदह पूर्वधारी	४५०
वैक्रियलब्धिधारी	५,०००
वादी	१,०००
साधु	२०,०००
साध्वी	४१,०००
श्रावक	१,७०,०००
श्राविका	३,४८,०००

□□

22

भगवान अरिष्टनेमि

[भगवान नेमिनाथ]

(चिन्ह—शख)

हे भव्यो, तुम विषय-सेवन छोडकर उन अरिष्टनेमिनाथ को भजो, जिनके अन्तराय रूपी कर्म ही नष्ट हो गये हैं, उन्ही को प्रणाम करो।

भगवान अरिष्टनेमि का तीर्थंकर-परम्परा मे २२वाँ स्थान है। करुणावतार भगवान परदु ख-निवारण हेतु सर्वस्व न्योछावर कर देने वालो मे अग्रगण्य थे। शरणागत-वत्सलता, परहित-अर्पणता और करुणा की सद्प्रवृत्तियाँ प्रभु के चरित्र में जन्म-जन्मान्तर से विकसित होती चली आयी थी। भगवान के लिए 'अरिष्टनेमि' और 'नेमिनाथ' दोनों ही नाम प्रचलित हैं।

पूर्वजन्म-वृत्तान्त

भगवान अरिष्टनेमि के पूर्वभवो की कथा बडी ही विचित्र है। अचलपुर नगर के राजा विक्रमधन की भार्या धारिणी ने एक रात्रि को स्वप्न मे फलो से लदा एक आम्रवृक्ष देखा। उस वृक्ष के लिए स्वप्न मे ही एक पुरुष ने कहा कि यह वृक्ष भिन्न-भिन्न स्थानो पर नौ बार स्थापित होगा। स्वप्न-फलदर्शक सामुद्रिको से यह तो ज्ञात हो गया कि रानी किसी महापुरुष की जननी होगी, किन्तु नौ स्थानो पर आम्रतरु के स्थापित होने का क्या फल है? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया। घोषित परिणाम सत्य सिद्ध हुआ और यथासमय रानी ने एक तेजवान पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम धनकुमार रखा गया। सिंहराजा की राजकन्या धनवती के साथ राजकुमार का विवाह सम्पन्न हुआ।

वन-विहार के समय एक बार युवराज धनकुमार ने तत्कालीन ख्यातिप्राप्त चतुर्विध ज्ञानी वसुन्धर मुनि को देशना देते हुए देखा और उत्सुकतावश वह भी उस सभा मे सम्मिलित हो गया। सयोग से महाराजा विक्रमधन (पिता) भी देशना-श्रवणार्थ वहाँ आ गये। महाराजा ने मुनिराज के समक्ष अपनी पत्नी द्वारा देखे गये स्वप्न की चर्चा की और अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उस अनुत्तरित प्रश्न को हल करने का निवेदन किया कि वृक्ष के नौ बार स्थापित होने का आशय क्या है? वसुन्धर मुनि ध्यानस्थ हो गये और उस स्थान से दूर प्रवास करते हुए केवली भगवान के समक्ष यह समस्या प्रस्तुत की। उत्तर में भगवान अरिष्टनेमि के अवतरण का सकेत उन्हे

मिला । मुनिराज ने विस्तारपूर्वक स्वप्न के उस अश की व्याख्या करते हुए कहा कि राजन् ! तुम्हारा यह पुत्र एक के पश्चात एक भव पार करता हुआ नौवे भव मे तीर्थंकर बनेगा ।

यही यथार्थ मे घटित भी हुआ । इन्ही माता-पिता के पुत्र रूप मे बार-बार धनकुमार ने जन्म लिया । माता-पिता और पुत्र—तीनो के भव परिवर्तित होते रहे और अपने अन्तिम भव मे धनकुमार का जीव २२वें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि के रूप मे अवतरित हुआ ।

भगवान पर अपने पूर्वजन्मो के सुसस्कारो का अच्छा प्रभाव था । उसी के बल पर प्रभु करुणावतार कहलाते है । उदाहरण के लिए उनके पूर्वभवो मे ऐसे एक भव का परिचय दिया जा सकता है जब धनकुमार का जीव (जो आगे चलकर अन्तिम भव मे अरिष्टनेमि के रूप मे अवतरित हुआ था) अपराजित कुमार के रूप मे जन्मा था ।

युवराज शौर्य और शक्ति मे जितने महान थे उतने ही करुणा और सहानुभूति की भावनाओ से भी परिपूर्ण सुहृदयी थे । अपना समग्र जीवन ही उन्होने सेवा के महान व्रत का पालन करने मे लगा दिया था । वे विचरणशील ही रहते और जहाँ कही कोई सहायता का पात्र उन्हे मिलता त्वरा के साथ वे उसकी सेवा मे जुट जाया करते थे ।

दीन-दुखियो को आश्रय देना, उनकी रक्षा करना—कुमार अपराजित का स्वभाव ही वन गया था । एक बार का प्रसग है—कुमार अपने एक मित्र के साथ वन-भ्रमण को गये हुए थे । अश्व की पीठ पर आरूढ दोनो मित्रो ने जब खूब भ्रमण कर लिया, तो तृषा शान्त करने के लिए एक शीतल जल-स्रोत पर पहुँचे । कुमार जल से अपनी तृषा बुझाने ही वाले थे कि सहसा कोई आर्त व्यक्ति अतिशय दीनावस्था मे आकर उनके चरणो पर गिर पडा । वह अत्यन्त आतकित था, मृत्यु के भय से काँप रहा था । उसने दीन वाणी मे राजकुमार से अपने प्राणो की रक्षा करने की प्रार्थना की । घोर विपत्ति मे ग्रस्त जानकर कुमार ने उसे अपनी शरण प्रदान की और अभयदान दिया । उसे धैर्य बँधाया । इसी समय उसी दिशा से सशस्त्र भीड आ गयी, जो उस व्यक्ति को ललकार रही थी ।

कुछ ही पलो मे जब भीड समीप आ गयी तो कुमार को ज्ञात हुआ कि ये लोग समीपस्थ राज्य के कर्मचारी है । इन लोगो ने कुमार से कहा कि इस व्यक्ति को हमे सौंप दो । यह घोर अपराधी है । चोरी, डकैती, हत्या आदि के जघन्य अपराध इसने किये है । हमारा राज्य इसे नियमानुसार दण्डित करेगा ।

कुमार वास्तव मे अब एक गम्भीर समस्या से ग्रस्त हो गये थे । उस व्यक्ति को शरणदान देने के पूर्व ही कुमार के मित्र ने उन्हे सतर्क किया था कि इसे बिना समझे-बूझे शरण देना अनुपयुक्त होगा । कौन जाने यह दुराचारी अथवा घोर अपराधी हो । किन्तु कुमार ने तो उसकी दयनीय दशा देख ली थी, जो उसे शरण मे ले लेने का निर्णय करने के लिए पर्याप्त थी । परन्तु जब स्पष्ट हो गया कि शरण मे लिया गया व्यक्ति

अनाचारी और दुष्कर्मी है, तो कुमार एक पल के लिए सोचने लगे। उन्होंने सज्जनोचित मर्यादा का पालन करने का ही निश्चय किया और शरणागत की रक्षा करने का पक्ष भारी हो गया। अत राजकुमार ने विनय के साथ उत्तर दिया—भले ही यह घोर दुष्कर्मी और अपराधी हो, किन्तु मैंने इसे अपना आश्रय दिया है। हम शरण माँगने वाले को न निराश लौटाते हैं, न शरणागत की रक्षा मे कुछ आगा-पीछा सोचते हैं। हम इसे आप लोगो को नही सौंप सकते।

निदान क्रुद्ध भीड हिंसा पर उतारू हो गयी। अपने दण्डनीय अपराधी को रक्षित देखना उसे कब सह्य होता ? अत उसने रक्षक को ही समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया। भयकर युद्ध छिड गया। कुमार अपराजित के पराक्रम, शौर्य और साहस के सामने सशस्त्र सैन्यदल हतप्रभ हो गया। उनके छक्के छूट गये—राजकुमार का पराक्रम देखकर। सेनाधिकारियो ने अपने स्वामी को सूचना दी। यह जानकर कि किसी युवक ने उस अपराधी को शरण दी है और वह अकेला ही हमारे राज्य के विरुद्ध युद्ध कर रहा है—राजा क्रोधित हो गया। वह भारी सेना के साथ सघर्षस्थल पर पहुँचा। राजा ने जब कुमार के अद्भुत शस्त्र-कौशल को देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। जब उसे ज्ञात हुआ कि यह युवक उसके मित्र राजा हरिनन्दी का पुत्र अपराजित कुमार है, तो उसने शस्त्र ही त्याग दिये। युद्ध समाप्त हो गया। अपराधी को क्षमादान दिया गया। कुमार भी परिचित होकर कि यह नरेश उनके पिता के मित्र हैं—आदर प्रकट करने लगे। राजा कुमार को अपने राजभवन मे ले आया—गद्गद् कठ से उसने कुमार के शौर्य व पराक्रम की प्रशसा की और उनके साथ अपनी राजकुमारी कनकमाला का विवाह कर दिया।

कुमार अपराजित का विवाह रत्नमाला के साथ भी हुआ था। इस विषय मे भी एक कथा प्रचलित है जिससे कुमार का न केवल साहसीपना प्रकट होता है, अपितु कुमार के हृदय की करुणा और असहायजनो की रक्षा का भाव भी उदभूत होता है। कुमार अपने मित्र विमल के साथ वन-विहार कर रहे थे। प्राकृतिक शोभा को निरख कर उनका मन प्रफुल्लित हो रहा था तभी दूर कही से एक करुण पुकार सुनाई दी। नारी कठ से निसृत वाणी हृदय को हिला देने वाली थी। कोई स्त्री आर्त्तस्वर से रक्षा के लिए सहायता मांग रही है, ऐसा आभास पाते ही दोनो मित्र स्वरागम की दिशा मे तीव्र गति से बढ गये। एक स्थल पर घनी वनस्पति के पीछे से क्रूर पुरुष का स्वर सुनाई देने लगा। साथ ही किसी स्त्री की सिसकियो का आभास भी होने लगा। मित्र और कुमार पल भर मे ही परिस्थिति का अनुमान लगाने मे सफल हो गये और स्त्री की रक्षा के प्रयोजन से वे और आगे बढ़े। तभी उस स्त्री का यह स्वर आया कि मैं केवल अपराजित कुमार को ही पति रूप मे वरण करूँगी तुम कितना ही प्रयत्न कर लो—चाहे मुझे प्राण ही क्यो न देने पड़ें पर तुम्हारी कामना कभी पूरी नही हो सकती। कर्कश और क्रूर स्वर मे कोई दुष्ट उसे धमकियाँ दे

मिला । मुनिराज ने विस्तारपूर्वक स्वप्न के उस अश की व्याख्या करते हुए कहा कि राजन् ! तुम्हारा यह पुत्र एक के पश्चात एक भव पार करता हुआ नौवे भव मे तीर्थंकर बनेगा ।

यही यथार्थ मे घटित भी हुआ । इन्ही माता-पिता के पुत्र रूप मे बार-बार धनकुमार ने जन्म लिया । माता-पिता और पुत्र—तीनो के भव परिवर्तित होते रहे और अपने अन्तिम भव मे धनकुमार का जीव २२वे तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि के रूप मे अवतरित हुआ ।

भगवान पर अपने पूर्वजन्मो के सुसस्कारो का अच्छा प्रभाव था । उसी के बल पर प्रभु करुणावतार कहलाते है । उदाहरण के लिए उनके पूर्वभवो मे ऐसे एक भव का परिचय दिया जा सकता है जब धनकुमार का जीव (जो आगे चलकर अन्तिम भव मे अरिष्टनेमि के रूप मे अवतरित हुआ था) अपराजित कुमार के रूप मे जन्मा था ।

युवराज शौर्य और शक्ति मे जितने महान थे उतने ही करुणा और सहानुभूति की भावनाओ से भी परिपूर्ण सुहृदयी थे । अपना समग्र जीवन ही उन्होने सेवा के महान व्रत का पालन करने मे लगा दिया था । वे विचरणशील ही रहते और जहाँ कही कोई सहायता का पात्र उन्हे मिलता त्वरा के साथ वे उसकी सेवा मे जुट जाया करते थे ।

दीन-दुखियो को आश्रय देना, उनकी रक्षा करना—कुमार अपराजित का स्वभाव ही बन गया था । एक बार का प्रसग है—कुमार अपने एक मित्र के साथ वन-भ्रमण को गये हुए थे । अश्व की पीठ पर आरूढ दोनो मित्रो ने जब खूब भ्रमण कर लिया, तो तृषा शान्त करने के लिए एक शीतल जल-स्रोत पर पहुँचे । कुमार जल से अपनी तृषा बुझाने ही वाले थे कि सहसा कोई आर्त व्यक्ति अतिशय दीनावस्था मे आकर उनके चरणो पर गिर पडा । वह अत्यन्त आतकित था, मृत्यु के भय से काँप रहा था । उसने दीन वाणी मे राजकुमार से अपने प्राणो की रक्षा करने की प्रार्थना की । घोर विपत्ति मे ग्रस्त जानकर कुमार ने उसे अपनी शरण प्रदान की और अभयदान दिया । उसे धैर्य बँधाया । इसी समय उसी दिशा से सशस्त्र भीड आ गयी, जो उस व्यक्ति को ललकार रही थी ।

कुछ ही पलो मे जब भीड समीप आ गयी तो कुमार को ज्ञात हुआ कि ये लोग समीपस्थ राज्य के कर्मचारी है । इन लोगो ने कुमार से कहा कि इस व्यक्ति को हमे सौप दो । यह घोर अपराधी है । चोरी, डकैती, हत्या आदि के जघन्य अपराध इसने किये है । हमारा राज्य इसे नियमानुसार दण्डित करेगा ।

कुमार वास्तव मे अब एक गम्भीर समस्या से ग्रस्त हो गये थे । उस व्यक्ति को शरणदान देने के पूर्व ही कुमार के मित्र ने उन्हे सतर्क किया था कि इसे बिना समझे-बूझे शरण देना अनुपयुक्त होगा । कौन जाने यह दुराचारी अथवा घोर अपराधी हो । किन्तु कुमार ने तो उसकी दयनीय दशा देख ली थी, जो उसे शरण मे ले लेने का निर्णय करने के लिए पर्याप्त थी । परन्तु जब स्पष्ट हो गया कि शरण मे लिया गया व्यक्ति

रहा था—बोल, तू मुझे पति रूप मे स्वीकार करती है या नही ? मैं अभी तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा । परिस्थिति की कोमलता को देखकर सिह की भाँति लपक कर कुमार उस स्थान पर पहुँच गये । स्त्री भूमि पर पडी थी। लाल-लाल नेत्रो वाला एक बलिष्ठ युवक उस पर तलवार का वार करने ही वाला था कि कुमार ने उसे ललकारा —'ओ कापुरुष ! तुझे लज्जा नही आती, एक अबला पर शस्त्र उठाते हुए।'

क्रूर युवक की क्रोधाग्नि मे जैसे घी पड गया। वह भभक उठा और बोला—सावधान ! हमारे पारस्परिक प्रसग मे तुम हस्तक्षेप मत करो, अन्यथा मेरी तलवार पहले तुम्हारा ही काम तमाम करेगी। यह स्त्री तो अपनी नीचता के कारण आज बच ही नही सकेगी।

युवक तो क्रोधाभिभूत होकर आय-बाय बकने मे ही लगा था और कुमार ने साहस के साथ युवक पर प्रहार कर दिया। असावधान युवक गहरी चोट खाकर तुरन्त भूलु ठित हो गया और चीत्कार करने लगा। उसे गहरे घाव लगे थे। रक्त का फव्वारा छूट गया था। युवक अपनी शक्ति का सारा गर्व भूल गया था।

राजकुमार इस निश्चेष्ट पडे युवक को देखता रहा और मन मे उठने वाली गूँज को सुनता रहा जो उसे आश्चर्य मे डाल रही थी—यह अपरिचिता बाला मुझसे विवाह करने पर दृढप्रतिज्ञ कैसे है ? कौन है यह ? सोचते-सोचते कुमार की दृष्टि उस अबला की ओर मुडी। अब वह आश्वस्त-सी खडी थी। वह कुमार के प्रति मौन धन्यवाद व्यक्त कर रही थी। सरक्षण पाकर वह आतक-मुक्त हो गयी थी।

इसी समय दुष्ट युवक को चेत आया। वह अपने गम्भीर घावो की पीडा के कारण कराह रहा था। उसका मुख निस्तेज हो चला था। तभी राजकुमार ने उससे प्रश्न किया—कौन हो तुम और इस सुन्दरी बाला को क्यो इस प्रकार परेशान कर रहे हो ? चाहते क्या हो तुम ?

युवक गिडगिडाकर कहने लगा तुमने इस स्त्री पर ही नही मुझ पर भी बडा ही उपकार किया है। मुझे भयकर पाप से बचाया है। मै बडा दुष्ट हूँ—मैंने बडा ही घोर दुष्कर्म सोचा था। तुम्हारे आ जाने से मैं·· क्षणमात्र को रुककर युवक ने एक जडी कुमार को दी और कहा कि इसका लेप मेरे घावो पर कर दो। स्वस्थ होकर मैं सारा वृत्तान्त सुना दूंगा। सहृदय कुमार ने उसकी भी सेवा की। जडी के प्रयोग से उसे स्वस्थ कर दिया। उसने बाद मे जो घटना सुनायी उससे तथ्यो पर यो प्रकाश पडा—

यह युवती रत्नमाला जो अनिंद्य सुन्दरी थी एक विद्याधर राजा की कुमारी थी और वह युवक भी एक विद्याधर का पुत्र था। रत्नमाला की रूप-माधुरी पर वह अत्यन्त मुग्ध था। अत वह उससे विवाह करना चाहता था। उसने अनेको प्रयत्न किये, किन्तु सफल न हो पाया। किसी भविष्यवक्ता ने राजकुमारी को बताया था

विरक्ति की महिमा को गम्भीरता से अनुभव किया। उन्होने मुनिराज के समक्ष अपनी सहज जिज्ञासा प्रस्तुत की कि क्या हम भी कभी विरक्त हो, सयम स्वीकार कर सकेंगे? मुनि ने भविष्यवाणी की कि राजकुमार तुम २२वें तीर्थंकर होगे और तुम्हारा मित्र विमल प्रथम गणधर बनेगा। इन वचनो से कुमार को आत्मतोष हुआ और वे अपने अभियान पर और आगे अग्रसर हो गये।

कुछ कालोपरान्त कुमार जयानन्द नगर मे पहुँचे। यहाँ की राजकुमारी थी—प्रीतिमती, जो रूप के लिए जितनी ख्यातनामा थी उससे भी बढकर अपने बुद्धि-कौशल के लिए थी। उन दिनो वहाँ राजकुमारी का स्वयवर रचा हुआ था। दूर-दूर से अनेक राजा-राजकुमार राजकुमारी प्रीतिमती को प्राप्त करने की लालसा से वहाँ एकत्रित थे। घोषणा यह थी कि जो राजा या राजकुमार राजकुमारी के प्रश्नो के सही-सही उत्तर दे देगा उसी के साथ उसका विवाह कर दिया जायगा।

कुमार अपराजित ने रूप परिवर्तनकारी गुटिका की सहायता से अपना स्वरूप बदल लिया। उन्होने एक अतिसाधारण से व्यक्ति के रूप मे स्वयवर सभा मे जाकर पीछे की पक्ति मे स्थान ग्रहण कर लिया। राजकुमारी प्रश्न करती और उपस्थित राजा-राजकुमार अपनी गर्दन झुकाकर बैठ जाते। किसी मे भी उत्तर देने की योग्यता न थी। अन्त मे राजकुमारी ने पीछे जाकर उस साधारण से प्रतीत होने वाले युवक की ओर उन्मुख होकर अपना प्रश्न प्रस्तुत किया। अपनी विलक्षण त्वरित बुद्धि से कुमार ने तुरन्त उसका उत्तर दे दिया और राजकुमारी ने उस युवक को वरमाला पहना दी।

कुमार की बुद्धि का तो सभी ने लोहा माना, किंतु शूरवीर और वैभवशाली राजागण यह सहन नही कर पाये कि उनके होते हुए राजकुमारी किसी दीन-दुर्बल साधारण से व्यक्ति का वरण करे। प्रतिक्रियास्वरूप तथाकथित पराक्रमी नरेशो ने शस्त्र धारण कर लिये। कुमार अपराजित भी इस कला मे कहाँ पीछे थे? घोर युद्ध आरम्भ हो गया। सारा सरस वातावरण वीभत्स हो उठा। बुद्धि के स्थान पर अब इस स्थल पर वल के करतव दिखाये जाने लगे। अपराजित कुमार ने बुद्धि का कौशल दिखा चुकने के पश्चात् अपना पराक्रम-प्रदर्शन प्रारम्भ किया तो सभी दग रह गये। इस कौशल से यह छिपा न रह सका कि साधारण-सा दिखाई देने वाला यह युवक कुमार अपराजित है। मनोनुकूल शूरवीर और बुद्धिमान पति प्राप्त कर राजकुमारी प्रीतिमती का मन-मयूर नाच उठा। दोनो का विवाह पूर्ण उल्लास और उत्साह के साथ सम्पन्न हो गया।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुमार अपराजित और प्रीतिमती का दाम्पत्य सबध अनेक पूर्वभवो मे भी रह चुका था और अपने नौवें (आगामी) भव मे भी जब अपराजित कुमार भगवान अरिष्टनेमि के रूप मे जन्मे तो उनका स्नेह-सम्बन्ध किसी रूप मे राजीमती के स्वरूप मे प्रीतिमती से रहा।

गर्भस्थ हो जाने की सूचना देने वाले १४ दिव्य स्वप्नो का दर्शन रानी ने उसी रात्रि मे किया और राजदम्पत्ति हर्ष विभोर हो उठे। श्रावण शुक्ला पचमी को रानी ने सुखपूर्वक नीलमणि की काति वाले एक सलोने पुत्र को जन्म दिया। ५६ दिक्कुमारियो और देवो ने सुमेरु पर्वत पर भगवान का जन्म कल्याणोत्सव मनाया। गर्भकाल मे माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र—नेमि देखा था और राजपरिवार समस्त अरिष्टो से बचा रहा अत नवजात पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा गया।

महाराज समुद्रविजय का नाम यादव कुल के प्रतापी सम्राटो मे गिना जाता है। इनके एक अनुज थे—वसुदेव। वसुदेव की दो रानियां थी। वडी का नाम रोहिणी था जिनके पुत्र का नाम वलराम या वलभद्र था और छोटी रानी देवकी थी जो श्रीकृष्ण की जननी थी। यादव वश मे ये तीनो राजकुमार श्रीकृष्ण, वलराम और अरिष्टनेमि अपनी असाधारण वुद्धि और अपारशक्ति एव पराक्रम के लिए विख्यात थे। जरासध इस समय का प्रतिवासुदेव था। इधर अत्याचारी कस का विनाश श्रीकृष्ण ने दुष्ट-दलन प्रवृत्ति का परिचय देते हुए किया ही था और उधर प्रतिवासुदेव जरासध ने इसका प्रतिशोध लेने के वहाने सघर्ष प्रारम्भ कर दिया। जरासध ने यादव कुल के ही सर्वनाश का विचार कर लिया था। अत भारत के पश्चिमी तट पर नया नगर 'द्वारिका' बसाकर कृष्ण स-परिवार वहाँ रहने लगे। इस समय अरिष्टनेमि की आयु कोई ४-५ वर्ष की रही होगी। इस प्रकार भगवान अरिष्टनेमि का जन्म उत्तर भारत मे यमुना तट पर हुआ था, किंतु अधिकाश जीवन पश्चिमी भारत मे ही व्यतीत हुआ। वही उन्होने अलौकिक बाल-लीलाएँ भी की।

बाल-लीलाएं

कुमार अरिष्टनेमि जन्म से ही अवधिज्ञान के धारक थे, किंतु सामान्य बालकोचित लीलाधारी बने रहे। वैसे उनके प्रत्येक कार्य से मति-सम्पन्नता और अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता था। माता-पिता और अन्य सभी—जो भी उनके कार्यों को देखता, इसी अनुमान पर पहुँचता था कि भविष्य मे यह बालक बडा शक्तिशाली और पराक्रमी निकलेगा। उनका कोई काम ऐसा न होता था कि जिसे देखने वाले आश्चर्यचकित न हो जायँ।

राजमहल मे एक बार बालक अरिष्टनेमि खेल रहे थे। कौतुकवश उन्होने मोतियो को मुट्ठियां भर-भर कर आँगन मे उछाल दिया। माता शिवादेवी बालक के इस अनुचित काम पर उन्हे बुरा-भला कहना ही चाहती थी कि उन्होने देखा कि जहाँ-जहाँ मोती गिरे थे, वहाँ-वहाँ सुन्दर वृक्ष उग आये हैं जिन पर मुक्ता-राशियां लदी हुई हैं। एक-बारगी वे आश्चर्य-सागर मे निमग्न हो गयी। कुछ पलो बाद उन्होने बालक से कहा कि और मोती बो दो। भगवान ने उत्तर दिया—"समय पर बोये हुए मोती ही फलदायी होते हैं।" तब से यह एक सूक्ति, एक कहावत हो गयी है जो बहु प्रचलित है।

माता-पिता अन्य स्वजनो ने कुमार अरिष्टनेमि से पहले भी विवाह कर लेने का आग्रह कई-कई बार किया था, किंतु वे कुमार से इस विषय मे स्वीकृति नही ले पाये। अतः वे सब निराश थे। ऐसी स्थिति मे श्रीकृष्ण ने एक नयी युक्ति की। उन्होने अपनी रानियो से किसी प्रकार अरिष्टनेमि को मनाने के लिए कहा।

श्रीकृष्ण से प्रेरित होकर रानियो ने एक मनमोहक सरस फाग रचा। अरिष्ट-नेमि को भी उसमे सम्मिलित किया गया। रानियो ने इस अवसर पर अनेकविध प्रयत्न किये कि कुमार के मन मे कामभावना को जाग्रत कर दें और उन्हे किसी प्रकार विवाह के लिए उत्सुक करें, किंतु इस प्रकार उन्हे सफलता नही मिली। तब रानियाँ बडी निराश हुईं और कुमार से प्रार्थना करने लगी कि हमारे यदुकुल मे तो साधारण वीर भी कई-कई विवाह करते हैं। आप वासुदेव के अनुज होकर भी अब तक अविवाहित है। यह वश की प्रतिष्ठा के योग्य नही है। अत आपको विवाह कर ही लेना चाहिए। रानियो की इस दीन प्रार्थना पर कुमार किंचित् मुस्कुरा पड़े थे, बस, रानियो ने घोषित कर दिया कि कुमार अरिष्टनेमि ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है।

राजीमती से विवाह उपक्रम

सत्यभामा की वहन राजीमती को कुमार के लिए सर्व प्रकार से योग्य कन्या पाकर श्रीकृष्ण ने कन्या के पिता उग्रसेन से इस सम्बन्ध मे प्रस्ताव किया। उग्रसेन ने इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया। कुमार अरिष्टनेमि ने इन प्रयत्नो का विरोध नही किया और न ही वाचिक रूप से उन्होने अपनी स्वीकृति दी।

यथासमय वर अरिष्टनेमि की भव्य बारात सजी। अनुपम शृगार कर वस्त्राभूषण से सजाकर दूल्हे को विशिष्ट रथ पर आरूढ किया गया। समुद्रविजय सहित समस्त दशार्ह, श्रीकृष्ण, बलराम और समस्त यदुवशी उल्लसित मन के साथ सम्मिलित हुए। बारात की शोभा शब्दातीत थी। अपार वैभव और शक्ति का समस्त परिचय यह बारात उस समय देने लगी थी। स्वय देवताओ मे इस शोभा का दर्शन करने की लालसा जागी। सौधर्मेन्द्र इस समय चिन्तित थे। वे सोच रहे थे कि पूर्व तीर्थंकर ने तो २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि स्वामी के लिए घोषणा की थी कि वे बाल-ब्रह्मचारी के रूप मे ही दीक्षा लेंगे। फिर इस समय यह विपरीताचार कैसा ? उन्होने अवधिज्ञान द्वारा पता लगाया कि वह घोषणा विफल नही होगी। वे किञ्चित् तुष्ट हुए किन्तु ब्राह्मण का वेष धारण कर बारात के सामने आ खडे हुए और श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि कुमार का विवाह जिस लग्न मे होने जा रहा है वह महा अनिष्ट-कारी है। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण को फटकार दिया। तिरस्कृत होकर ब्राह्मण वेषधारी सौधर्मेन्द्र अदृश्य हो गये, किंतु यह चुनौती दे गये कि आप अरिष्टनेमि का विवाह कैसे करते हैं ? हम भी देखेंगे।

बारात गन्तव्य स्थल के समीप पहुँची। इस समय वधू राजीमती अत्यन्त व्यग्र

भर तक वे याचको को तुष्ट करते रहे। तब भगवान का निष्क्रणोमत्सव मनाया गया। देवतागण भी इसमे सोत्साह सम्मिलित हुए। समारोह के पश्चात् रत्नजटिल उत्तरकुरु नामक सुसज्जित पालकी मे बैठकर उन्होने निष्क्रमण किया। इस शिविका को राजा-महाराजाओ और देवताओ ने मिलकर उठाया था।

उज्जयत पर्वत के सहस्राम्रवन मे अशोक वृक्ष के नीचे समस्त वस्त्रालकारो का भगवान ने परित्याग कर दिया। इन परित्यक्त वस्तुओ को इद्र ने श्रीकृष्ण को समर्पित किया था। भगवान ने तेले की तपस्या से पचमुष्टि लोच किया और शक्र ने उन केशो को अपने उत्तरीय मे सँभाल कर क्षीर सागर मे प्रवाहित कर दिया। सिद्धो की साक्षी मे भगवान ने सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा पाठ किया और १००० पुरुषो के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। यह स्मरणीय तिथि श्रावण शुक्ला षष्ठी और वह शुभ बेला थी चित्रा नक्षत्र की। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान नेमिनाथ को मन पर्यवज्ञान की प्राप्ति हो गई थी।

आगामी दिवस गोष्ठ मे वरदत्त नामक ब्राह्मण के यहाँ प्रभु ने अष्टमतप कर परमान्न से पारणा किया। देवताओ ने ५ दिव्यो की वर्षा कर दान की महिमा व्यक्त की। तदनतर समस्त घातिककर्मो के क्षय के लिए कठोर तप के सकल्प के साथ भगवान ने वहाँ से प्रस्थान किया।

५४ दिन छद्मस्थचर्य्या मे रहकर भगवान विभिन्न प्रकार के तप करते रहे और फिर उसी उज्जयत गिरि, अपने दीक्षा-स्थल पर लौट आए। वहाँ अष्टम तप मे लीन हो गए। शुक्लध्यान से भगवान ने समस्त घातिकर्मो को क्षीण कर दिया और आश्विन कृष्ण अमावस्या की अर्धरात्रि से पूर्व, चित्रा नक्षत्र के योग मे केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया।

समवसरण : प्रथम देशना

भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होते ही सर्वलोको मे एक प्रकाश व्याप्त हो गया। आसन कम्प से इद्र को इसकी सूचना हुई। वह देवताओ सहित भगवान की वदना करने को उपस्थित हुआ। देवताओ ने भगवान के समवसरण की रचना की। सदेश श्रीकृष्ण के पास भी पहुँचा और सदेशवाहको को उन्होने प्रसन्न होकर पुरस्कृत किया। एक करोड यादववशियो सहित श्रीकृष्ण, दशो दशार्ह, देवकी आदि माताओ, वलभद्र आदि वधुओ और १६ हजार राजाओ के साथ समवसरण मे सम्मिलित हुए। ये सभी अपने वाहनो और शस्त्रो को त्यागकर समवसरण मे प्रविष्ट हुए। स्फटिक आसन पर विराजित प्रभु पूर्वाभिमुखी थे, किंतु तीर्थंकरत्व के प्रभाव से उनका मुख सभी दिशाओ से दृश्यमान था।

भगवान ने वार्तालाप की सहज भाषा मे दिव्य देशना दी और अपने अलौकिक ज्ञानालोक से भव्यो के अज्ञानान्धकार को विदीर्ण कर दिया। प्रभु की विरक्ति-उत्प्रेरक वाणी से प्रभावित होकर सर्वप्रथम राजा वरदत्त ने प्रभु चरणो मे तत्काल ही दीक्षा

ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् दो हजार क्षत्रियों ने दीक्षा ले ली। अनेकों ने श्रमण दीक्षा ग्रहण की। अनेक राजकन्याओं ने भी भगवान के चरणों में दीक्षा ली। इनमें से यक्षिणी आर्या को भगवान ने श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी बनाया। दशों दशार्ह, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न आदि ने श्रावकधर्म और माता शिवादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी आदि ने श्राविकाधर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना कर भावतीर्थ की गरिमा से विभूषित हुए।

राजीमती द्वारा प्रव्रज्या

राजीमती प्रियतम के वियोग में अतिशय कष्टमय समय व्यतीत कर रही थी। भगवान के केवली होने का समाचार सुनकर वह हर्ष-विह्वल हो उठी। उसने सांसारिक सुखों को तो त्याग ही दिया था। अब वह पति के मार्ग पर अग्रसर होने को उत्सुक हो गयी। इधर माता-पिता से जैसे तैसे उसने अनुमति ली और केश-लुंचन कर संयम स्वीकार कर लिया। स्वयं दीक्षा ग्रहण कर लेने पर उसने अन्य अनेक स्त्रियों को दीक्षा भी दी। उन साध्वियों के साथ वह भगवान के चरणों की वन्दना के लिए चल पड़ी। उस समय केवली भगवान रैवतांचल पर विराजित थे।

था, किन्तु मासाहार और मदिरा की दुष्प्रवृत्तियो मे वह ग्रस्त थी। इन प्रवृत्तियो को विनाश का कारण बताते हुए उन्होने अनेक प्रसगो पर यादव जाति को सावधान किया था।

भविष्य-कथन

विचरण करते हुए एक बार प्रभु का आगमन द्वारिका मे हुआ। श्रीकृष्ण भगवान की सेवा मे उपस्थित हुए। उन्होने अपने मन की सहज जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए द्वारिका नगरी के भविष्य के सम्बन्ध मे प्रश्न किया कि यह स्वर्गोपम पुरी ऐसी ही बनी रहेगी या इसका भी ध्वस होगा ?

भगवान ने भविष्यवाणी करते हुए कहा कि शीघ्र ही यह सुन्दर नगरी मदिरा, अग्नि और ऋषि—इन तीन कारणो से विनष्ट हो जायगी।

श्रीकृष्ण को चिन्तामग्न देखकर प्रभु ने इस विनाश से बचने का उपाय भी बताया। उन्होने कहा कि कुछ उपाय है, जिनसे नगरी को अमर तो नही बनाया जा सकता किन्तु उसकी आयु अवश्य ही बढायी जा सकती है। वे उपाय ऐसे हैं जो सभी नागरिको को अपनाने होंगे। सकट का पूर्ण विवेचन करते हुए भगवान ने कहा कि कुछ मद्यप यादव कुमार द्वैपायन ऋषि के साथ अभद्र व्यवहार करेंगे। ऋषि क्रोधावेश मे द्वारिका को भस्म करने की प्रतिज्ञा करेंगे। काल को प्राप्त कर ऋषि अग्निदेव बनेंगे और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। (यदि नागरिक मास-मदिरा का सर्वथा त्याग करें और तप करते रहे तो नगर की सुरक्षा सभव है।)

श्रीकृष्ण ने द्वारिका मे मद्यपान का निषेध कर दिया और जितनी भी मदिरा उस समय थी, उसे जगलो मे फेंक दिया गया। सभी ने सर्वनाश से रक्षा पाने के लिए मदिरा का सर्वथा त्याग कर दिया और यथा-सामर्थ्य तप मे प्रवृत्ति रखने लगे।

समय व्यतीत होता रहा और भगवान की चेतावनी से लोगो का ध्यान हटता रहा। जनता असावधान होने लगी। सयोग से कुछ यादव कुमार कदम्बवन की ओर विहारार्थ गये थे। वहाँ उन्हे पूर्व मे फेंकी गयी मदिरा कही शिलासधियो मे सुरक्षित मिल गयी। उन्हे तो आनन्द ही आ गया। छक कर मदिरा पान किया और फिर उन्हे विचार आया द्वैपायन ऋषि का, जो द्वारिका के विनाश के प्रधान कारण बनने वाले है। उन्होने निश्चय किया कि ऋषि का ही आज वध कर दिया जाय। नगरी इससे सुरक्षित हो जायगी।

इन मद्यप युवको ने ऋषि पर प्रहार कर दिया। प्रचण्ड क्रोध से अभिभूत द्वैपायन ने उनके सर्वनाश की प्रतिज्ञा करली। भविष्यवाणी के अनुसार ऋषि मरणोपरान्त अग्निदेव बने, किन्तु वे द्वारिका की कोई भी हानि नही कर पाये, क्योकि उस नगरी मे कोई न कोई जन तप करता ही रहता था और अग्निदेव का बस ही नही चल पाता। धीरे-धीरे सभी निश्चिन्त हो गये कि अब कोई खास आवश्यकता नही है और सभी ने तप त्याग दिया। अग्निदेवता को ११ वर्षों के बाद अब अवसर मिला।

23

भगवान पार्श्वनाथ

(चिन्ह—*नाग*)

जो संसार रूपी पृथ्वी को विदारने मे हल के समान हैं, जो नील वर्ण शरीर से सुशोभित हैं और पार्श्व यक्ष जिनकी सदा सेवा करता है—ऐसे वामा-देवी के नन्दन श्री पार्श्व प्रभु मे मेरी उत्साहयुक्त भक्ति हो, जैसे नील कमल मे भ्रमर की भक्ति होती है।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी २३वे तीर्थंकर हुए है। उनका समग्र जीवन ही 'समता' और करुणा का मूर्तिमत रूप था। अपने प्रति किये गये अत्याचार और निर्मम व्यवहार को विस्मृत कर अपने साथ वैमनस्य का तीव्र भाव रखने वालो के प्रति भी सहृदयता, सद्भावना और मगल का भाव रखने के आदर्श का अनुपम चित्र भगवान का चरित प्रस्तुत करता है। यह किसी भी मनुष्य को महान् बनाने की क्षमता रखने वाली आदर्शावली भगवान की जन्म-जन्मान्तर की सम्पत्ति थी। उनके पूर्वभवो के प्रसगो से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

भगवान का अवतरण-काल ईसापूर्व ९-१०वी शती माना जाता है। वे इतिहास-चर्चित महापुरुष है। २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी से केवल ढाई-तीन सौ वर्ष पूर्व ही भगवान पार्श्वनाथ स्वामी हुए हैं। "आर्यों के गगा-तट एव सरस्वती-तट पर पहुंचने से पूर्व ही लगभग २२ प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनो को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके पश्चात् पार्श्व हुए और उन्हे अपने उन सभी पूर्व तीर्थंकरो का अथवा पवित्र ऋषियो का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरो को लिए हुए पहले हो चुके थे।" भारतीय इतिहास 'एक दृष्टि' ग्रन्थ मे गभीर गवेषणा के साथ डॉ० ज्योतिप्रसाद के उपर्युक्त विचार भगवान के मानसिक उत्कर्ष का परिचय देते है।

जैनधर्म के उद्गम मे भगवान की कितनी महती भूमिका रही है—डॉ० चार्ल शार्पेण्टियर की इस उक्ति से इस बिन्दु पर पर्याप्त प्रकाश पडता है—"जैनधर्म निश्चित रूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्राय निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप मे विद्यमान रह चुके है और परिणामस्वरूप मूल सिद्धातो की मुख्य बाते महावीर से बहुत पहले सूत्ररूप धारण कर चुकी होगी।" स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक अस्तित्व तो असदिग्ध है ही, साथ ही जैनधर्म के प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हे है, जो समय के साथ-साथ विकसित होता चला गया।

८ स्वर्णबाहु का भव
९. प्राणत देवलोक का भव
१० पार्श्वनाथ का भव

पोतनपुर नगर के नरेश महाराजा अरविन्द जैनधर्म परायण थे। उनके राज-पुरोहित विश्वभूति के दो पुत्र थे—बडा कमठ और छोटा मरुभूति। पिता के स्वर्गवास के बाद कमठ ने पिता का कार्यभार सभाल लिया, किंतु मरुभूति की रुचि सासारिक विषयो मे नही थी। वह सर्व सावद्ययोगो को त्यागने के अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा मे रहा करता। दोनो भाइयो के मनोजगत मे जमीन-आसमान का अन्तर था। कमठ कामुक और दभी था। इन दुर्गुणो ने उसके चरित्र को पतित कर दिया था। यहाँ तक कि अपने अनुज की पत्नी से भी उसके अनुचित सबध थे। कमठ की पत्नी इसे कैसे सहन करती? उसने देवर को इस वीभत्सकाड का समाचार दिया, किंतु मरुभूति सहज ही इसमे सत्यता का अनुभव न कर पाया। उसका सरल हृदय सर्वथा कपटहीन था और अपने अग्रज कमठ के प्रति वह ऐसे किसी भी सवाद को विश्वसनीय नही मान पाया। कानो पर विश्वास चाहे न हो, पर आँखें तो कभी छल नही कर पाती। उसने यह घोर अनाचार जब स्वय देखा तो सन्न रह गया। उसने राजा की सेवा मे प्रार्थना की और राजा, ब्राह्मण होने के नाते कमठ को मृत्यु दण्ड तो नही दे पाया, किंतु उसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया।

कमठ ने जगल मे कुछ दिनो पश्चात तपस्या प्रारम्भ कर दी। अपने चारो ओर अग्नि प्रज्वलित कर, नेत्र निमीलित कर बैठ गया। समीप के क्षेत्र मे कमठ के तप की प्रशसा होने लगी और श्रद्धा-भाव के साथ जन-समुदाय वहाँ एकत्र रहने लगा। मरुभूति ने जब इस विषय मे सुना तो उसका सरल मन पश्चात्ताप मे डूब गया। वह सोचने लगा कि मैंने कमठ के लिए घोर यातनापूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न करदी है। उसके मन मे उत्पन्न पश्चात्ताप का भाव तीव्र होकर उसे प्रेरित करने लगा कि वह कमठ से क्षमायाचना करे। वह कमठ के पास पहुँचा। उसे देखकर कमठ का वैमनस्य-भाव वीभत्स हो उठा। मरुभूति जब क्षमायाचनापूर्वक अपना मस्तक कमठ के चरणो मे झुकाए हुए था, तभी कमठ ने एक भारी प्रस्तर उसके सर पर दे मारा। मरुभूति के प्राण-पखेरु उड गये। इसी भव मे नही, आगामी अनेक जन्मो मे कमठ अपनी शत्रुता के कारण मरुभूति के जीव को त्रस्त करता रहा।

यह कथा तो है, भगवान के १० पूर्व भवो मे से पहले भव की। अपने आठवें भव मे मरुभूति का जीव राजा स्वर्णबाहु के रूप मे उत्पन्न हुआ था। पुराणपुर नगर मे एक समय महाराजा कुलिशबाहु का शासन था। इनकी धर्मपत्नी महारानी सुदर्शना थी।

मध्य ग्रैवेयक का आयुष्य समाप्त कर जब वज्रनाभ के जीव का च्यवन हुआ तो उसने महारानी सुदर्शना के गर्भ मे स्थिति पायी। इसी रात्रि को रानी ने १४ दिव्य

मुख चिन्ह से युक्त कुमार के जन्म लेते ही सभी लोको मे एक आलोक व्याप्त हो गया, जो तीर्थंकर के अवतरण का सकेत था । दिक्कुमारियो, देवेन्द्र और देवो ने मिलकर भगवान के जन्म-कल्याण महोत्सव का आयोजन किया ।

कुमार-जन्म से सारे राज्य मे हर्ष का ज्वार सा आ गया था । १० दिन तक भाँति-भाँति के उत्सव मनते रहे । जब कुमार गर्भ मे थे तो रानी ने अधेरी रात मे भी राजा के पास (पार्श्व) चलते साँप को देख लिया था और राजा को सचेत कर उनकी प्राण-रक्षा की थी । इस आधार पर महाराज अश्वसेन ने कुमार का नाम रखा पार्श्व कुमार । उत्तर पुराण के एक उल्लेख के अनुसार कुमार का यह नामकरण इन्द्र द्वारा हुआ था ।

गृहस्थ जीवन

युवराज पार्श्वकुमार अत्यन्त वात्सल्य एव स्नेह से सिक्त वातावरण मे विकसित होते रहे । भाँति-भाँति की बाल-सहज क्रीडा-कौतुक करते, स्वजन-परिजनो को रिझाते हुए क्रम-क्रम से अपनी आयु की सीढियाँ लाँघते रहे । वे जन्मजात प्रबुद्धचेता और चिन्तनशील थे । विषय और समस्या पर मनन कर उसकी तह तक पहुँचने की अद्भुत क्षमता थी उनमे । मौलिक बुद्धि से वे प्रचलित मान्यताओ का विश्लेषण करते और तर्क की कसौटी पर जो खरी उतरती, केवल उन्ही को वे सत्य-स्वरूप स्वीकार करते थे । शेष का वे विरोध करते थे तथा और निर्भीकता के साथ उनका खण्डन भी किया करते थे । वे सहज विश्वासी न थे और यही कारण है कि अध-विश्वास तो उनको स्पर्श भी न कर पाया था ।

जैसा कि वर्णित किया जा चुका है भगवान का वह युग पाखण्ड और अध-विश्वासो का युग था । तप-यज्ञादि के नाम पर भाँति-भाँति के पाखण्डो का खुला व्यवहार था । वह मिथ्या मायाचार के अतिरिक्त कुछ भी न था । वाराणसी तो विशेषत तापस-केन्द्र ही बनी हुई थी । एक दिन युवराज पार्श्वकुमार ने सुना कि नगर मे एक तापस आया है, जो पंचधूनी तप कर रहा है । असख्य श्रद्धालु नर-नारी दर्शनार्थ पहुँच रहे थे । राजमाता और अन्य स्वजनो को भी जब उन्होने उस तापस की वन्दना करने हेतु जाते देखा, तो उत्सुकतावश वे भी साथ हो लिये । उन्होने देखा अपार जन-समुदाय एकत्रित है और मध्य मे तापस तप ताप रहा है । अग्नि जब मन्द होने लगती तो बडे-बड़े लक्कड तापस अग्नि मे खिसकाता जा रहा था। जब इसी प्रकार एक लक्कड उसने खिसकाया, तो उसमे युवराज ने एक नाग जीवित अवस्था मे देखा । उनके मन मे जीवित नाग के दाह की सभावना से अतिशय करुणा का उद्रेक हुआ । साथ ही ऐसी साधना के प्रति घृणा का भाव भी उदित हुआ जिनमे निरीह प्राणियो की प्राणहानि को भी निषिद्ध नही समझा जाता । जहाँ एकत्रित समुदाय तापस की स्तुतियाँ कर रहा था, वहाँ राजकुमार पार्श्व के मन मे इस तापस के प्रति, उसके अज्ञान के कारण भर्त्सना का भाव प्रबल होता जा रहा था । युवराज ने तापस कमठ को सावधान करते हुए

के प्रति रचमात्र भी आकर्षण उसके मन मे न था। उनके ज्ञान और शक्ति की गाथाएँ दूर-दूर तक कही-सुनी जाती थी। भव्य और अति सुन्दर व्यक्तित्व कुमार की विशेषता थी। अनेक राजघरानो से कुमार के लिए विवाह-प्रस्ताव आने लगे, किन्तु वे तो साधना-पथ को अपनाना चाहते थे। अत' वे भला इनमे से किसी को कैसे स्वीकार करते।

उस समय कुशस्थल मे महाराजा प्रसेनजित का शासन था। उनकी राजकुमारी प्रभावती अनिद्य रूपवती और सर्वगुणसम्पन्ना थी। अब वह भी विवाहोपयुक्त वय को प्राप्त कर चुकी थी और महाराज प्रसेनजित उसके अनुकूल वर की खोज मे थे। कुमारी प्रभावती ने एक दिन किन्नरियो का एक गीत सुन लिया, जिसमे पार्श्वकुमार के अनुपम रूप की प्रशसा के साथ-साथ उस कन्या के महाभाग्य का वखान था, जो उसकी पत्नी बनेगी। राजकुमारी पार्श्वकुमार के प्रति पूर्वराग से ग्रस्त हो गयी। उसने मन मे सकल्प धारण कर लिया कि वह विवाह करेगी तो उसी राजकुमार से अन्यथा आजन्म अविवाहिता ही रहेगी। कोमल मन ने इसकी अभिव्यक्ति सखियो के सम्मुख की और राजकुमारी की हितैषिणी उन सखियो ने यह सवाद राजा प्रसेनजित तक पहुँचा दिया। अब प्रयत्न प्रारम्भ हुए। महाराजा स्वय वाराणसी नरेश महाराज अश्वसेन के समक्ष इस प्रार्थना के साथ पहुँचाना ही चाहते थे कि एक सकट आ उपस्थित हुआ।

कलिंग मे उन दिनो यवनराज का शासन था। वह अपने युग का एक शक्तिशाली शासक था। यवनराज ने जब राजकुमारी के रूपगुण की ख्याति सुनी, तो उसे प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठा। उसने महाराजा प्रसेनजित को सन्देश भिजवाया कि प्रभावती का हाथ मेरे हाथ मे दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। इस धमकी से राजा प्रसेनजित विचलित हो गये थे। यवनराज की शक्ति के दबाव मे भी भला राजा अपनी कन्या उसे कैसे दे देते ? अब उनके पास अन्य शासको से सहायता की याचना करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नही था। निदान, उन्होने अपना दूत महाराजा अश्वसेन के दरबार मे भेजा। दूत ने सारी कथा प्रस्तुत कर दी। राजकुमारी के मन मे पार्श्वकुमार के प्रति प्रेम का जो प्रबल भाव था, दूत ने महाराजा अश्वसेन को उससे भी अवगत किया और प्रार्थना की कि सकट की इस घडी मे कुशस्थल की स्वाधीनता और राजकुमारी प्रभावती के धर्म की रक्षा कीजिये।

महाराजा अश्वसेन को यवनराज का यह अनीतिपूर्ण दुराग्रह उत्तेजित कर गया। उन्होंने दूत को महाराजा प्रसेनजित की सहायता करने का आश्वासन देकर विदा किया और युद्ध की तैयारी का आदेश दिया। तुरन्त ही सैन्यदल शस्त्र से सुसज्जित होकर प्रयाण हेतु तत्पर हो गया। महाराजा स्वय इस विशालवाहिनी का नेतृत्व करने के लिए प्रस्थान कर ही रहे थे कि युवराज पार्श्वकुमार उपस्थित हुए और उन्होने विनयपूर्वक निवेदन किया कि युवा पुत्र के होते हुए महाराजा को यह कष्ट न करना होगा। मुझे आदेश दीजिये—मैं यवन सेना का दलन करने की पूर्ण

निर्मल अनुराग उन्हे प्राप्त था, किंतु उनका मन इन सामारिक विपयो मे नही रम पाया । भौतिक सुखो की कामना तो उन्हे कभी रही ही नही । ज्यो-ज्यो विषयो का विस्तार होता गया उनका मन त्यो ही त्यो विराग की ओर वढता गया और अतत. मात्र ३० वर्ष की अवस्था मे उन्होंने ससार को त्याग देने का अपना सकल्प व्यक्त भी कर दिया । तब तक उन्हे यह अनुभव भी होने लग गया था कि उनके भोग फलदायी कर्मों की समाप्ति अव समीप ही है और अव उन्हे आत्म-कल्याण मे प्रवृत्त होना चाहिए । तभी लोकातिक देवो ने धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की । कुमार पार्श्व वर्षीदान मे लग गये । वे एक वर्ष तक अमित दान देते रहे और तव उनका दीक्षाभिषेक हुआ ।

दीक्षाग्रहण केवलज्ञान

दीक्षाभिषेक सम्पन्न हो जाने पर पार्श्वकुमार ने निष्क्रमण किया । समस्त वैभव और स्वजन-परिजनो को त्यागकर वे विशाला नाम की शिविका मे आरूढ हो आश्रम पद उद्यान मे पधारे । वहाँ स्वत ही उन्होने समस्त वस्त्राभूषणो को अपने तन से पृथक् कर दिया और ३०० अन्य राजाओ के साथ अष्टम तप मे भगवान ने दीक्षा ग्रहण कर ली । दीक्षा के तुरन्त पश्चात ही उन्हे मन पर्यवज्ञान की प्राप्ति हो गयी । वह पौष कृष्णा एकादशी के अनुराधा नक्षत्र का शुभ योग था । आगामी दिवस को कोष्कट ग्राम मे धन्य नाम के एक गृहस्थ के यहाँ भगवान का प्रथम पारणा हुआ । इसके पश्चात् भगवान ने अपने अजस्र विहार पर कोष्कट ग्राम से प्रस्थान किया ।

अभिग्रह

दीक्षोपरात भगवान ने यह अभिग्रह किया कि अपने साधना समय अर्थात् ८३ दिन की छद्मस्थचर्या की अवधि मे मैं शरीर से ममता हटाकर सर्वथा समाधि अवस्था मे रहूँगा । इस साधना-काल मे देव-मनुज, पशु-पक्षियो की ओर से जो भी उपसर्ग उत्पन्न होगे उनको अचचल भाव से सहन करूँगा ।

भगवान अपने अभिग्रह के अनुरूप शिवपुरी नगर मे पधारे और कौशाम्ब वन मे ध्यानलीन होकर खडे हो गये ।

उपसर्ग

अपने सतत और मुक्त विहार के दौरान भगवान एक बार एक तापस-आश्रम के समीप पहुँचे ही थे कि सध्या हो गयी । अत भगवान ने अग्रसर होने का विचार स्थगित कर दिया । वे एक वट-वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये—ध्यानस्थ हो गये । इस समय कमठ का जीव मेघमाली असुर के रूप मे था । उसने अपने ज्ञान से ज्ञात कर लिया कि भगवान के साथ उसका पूर्वभव का वैमनस्य है । भगवान ध्यानस्थ है । वह इस कोमल परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए प्रेरित हो उठा । प्रतिशोध का भाव उसके मन मे कसमसाने लगा ।

करनी के प्रति पश्चात्ताप अकुरित हुआ । उसे बोध उत्पन्न हुआ और अपने दुष्कर्म के कारण उसे आत्म-ग्लानि होने लगी । वह सोचने लगा कि अपनी समग्र शक्ति को प्रयुक्त करके भी मैं अपनी योजना मे सफल न हो सका, व्यर्थ ही गयी मेरी सारी माया । इन भयकर उपद्रवो का कुछ भी प्रभाव भगवान पर नही हुआ । वे ध्यानलीन भी रहे और शात भी । अपार शक्ति के स्वामी होते हुए भी मेरे प्रति उनकी मुखमुद्रा मे क्रोध या रुष्टता का रग भी नही आ पाया । भगवान की इस क्षमाशीलता और धैर्य एव धरणेन्द्र की प्रेरणा से मेघमाली का हृदय-परिवर्तन हुआ । वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भगवान के चरणो मे आश्रय लेने मे ही अब मेरा कल्याण निहित है । वह दम्भी अब सर्वथा सरल हो गया था । पछतावे के भाव ने उसे बड़ा दयनीय बना दिया था । वह भगवान के चरण-कमलो से लिपट गया और दीन वाणी मे बार-बार क्षमा-प्रार्थना करने लगा ।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी तो परम वीतरागी थे । उनके लिए न कोई मित्र का विशिष्ट स्थान रखता था और न ही किसी को वे शत्रु मानते थे । उनके लिए धरणेन्द्र और मेघमाली मे कोई अन्तर नही था । वे न अपने हितैषी धरणेन्द्र पर प्रसन्न थे और न घोर उपद्रवो द्वारा कष्ट व बाधा पहुँचाने वाले मेघमाली (कमठ) के प्रति उनके मन मे रोष का ही भाव था । भगवान ने कमठ को आश्वस्त किया और वह धन्य हो गया । धरणेन्द्र भी भगवान की वन्दना कर विदा हो गया और कमठ भी एक नवीन मार्ग अपनाने की प्रेरणा के साथ चला गया । भगवान ने भी उस स्थल से विहार किया ।

दीक्षोपरात ८३ दिन तक भगवान इस प्रकार अनेक परीषहो और उपसर्गों को क्षमा व समता की प्रबल भावना के साथ झेलते रहे एव छद्मस्थावस्था मे विचरणशील बने रहे । इस अवधि मे भगवान ने अनेक कठोर तप एव उच्च साधनाएँ की । अन्तत ८४वें दिन वे वाराणसी के उसी आश्रमपद उद्यान मे लौट आये जहाँ उन्होने दीक्षा ग्रहण की थी । वहाँ पहुँचकर घातकी वृक्ष तले प्रभु ध्यान मग्न खड़े हो गये । अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण मे प्रवेश कर भगवान ने घातिककर्मों का क्षय कर दिया । भगवान को केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी । वह चैत्र कृष्णा चतुर्थी के विशाखा नक्षत्र का शुभ योग था । भगवान के केवली हो जाने की इस तिथि को तो सभी स्वीकार करते हैं, किंतु कतिपय आचार्यों का मत यह है कि यही वह तिथि थी जब कमठ द्वारा भयकर उपसर्ग प्रस्तुत किये गये थे, जबकि शेष इस तिथि को उस प्रसग के अनन्तर की मानते है ।

देव-देवेन्द्र को भगवान की केवल ज्ञानोपलब्धि की तुरत सूचना हो गई । वे भगवान की सेवा मे वन्दनार्थ उपस्थित हुए उन्होने केवलज्ञान की महिमा का पुन प्रतिपादन किया । सभी लोको मे एक प्रखर प्रकाश भी व्याप्त हो गया था ।

ध्यानलीन हो गये। शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण मे पहुँचकर भगवान ने सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर दिया। श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र मे भगवान पार्श्वनाथ स्वामी को निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	१०
केवली	१,०००
मन पर्यवज्ञानी	७५०
अवधिज्ञानी	१,४००
चौदह पूर्वधारी	३५०
वैक्रियलब्धिधारी	१,१००
वादी	६००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	१,२००
साधु	१६,०००
साध्वी	३८,०००
श्रावक	१,६४,०००
श्राविका	३,२७,०००

□□

उनका जीव अनेक पूर्वजन्मो के पूर्व नयसार के भव मे था, तभी श्रेष्ठ सस्कारो का अंकुरण उनमे हो गया था।

अत्यन्त प्राचीनकाल मे महाविदेह मे जयन्ती नाम की एक नगरी थी, जहां शत्रुमर्दन नाम का राजा शासन करता था। नयसार इसी नरेश का सेवक था और प्रतिष्ठानपुर का निवासी था। नयसार स्वभाव से ही गुणग्राहक, दयालु और स्वामिभक्त था। अपने स्वामी के आदेश पर एक बार नयसार वन मे लकडी काटने को गया हुआ था। दोपहर को जब वह भोजन की तैयारी करने लगा, तभी उसने एक मुनि का दर्शन किया, जो परम प्रभावान् थे, किन्तु श्रान्त-क्लान्त, तृषित और क्षुधित लग रहे थे। मुनि इस गहन वन मे भटक गये थे, उन्हे मार्ग नही मिल रहा था। नयसार ने प्रसन्न हो मुनि का सेवा-सत्कार किया, आहार आदि का प्रतिलाभ लिया, तत्पश्चात् मुनि को वह उनके गन्तव्यस्थल तक पहुँचा आया। मुनि नयसार की सेवा पर बडे प्रसन्न हुए और उन्होने उसे धर्मोपदेश दिया। नयसार को मुनि के सम्पर्क से सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई और वह आजीवन सम्यक्धर्म का निर्वाह करते हुए मुनिजनो की सेवा मे ही व्यस्त रहा।

नयसार का जीव अपने दूसरे भव मे सौधर्म कल्प मे देव हुआ। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का पुत्र था—चक्रवर्ती भरत और भरत का पुत्र था मरीचि। भगवान ने भरत के एक प्रश्न के उत्तर मे मरीचि के विषय मे कहा था कि वह इसी अवसर्पिणी काल मे तीर्थंकर बनेगा। इस भावी गरिमा से उसे गर्व की उन्मत्तता हो गयी थी और उसने इसकी आलोचना भी नही की। इसी मरीचि के रूप मे (सौधर्म कल्प से च्यवन कर) नयसार ने अपना तीसरा भव धारण किया था। मरीचि भगवान का [illegible] रहा और उसे प्रथम परिव्राजक कहलाने का गौरव भी प्राप्त है। यही नयसार का जीव अपने चौथे भव मे ब्रह्मलोक का देव, पांचवे भव मे कौशिक ब्राह्मण, छठे भव मे पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवे भव मे सौधर्म देव, आठवें भव मे अग्निद्योत, नौवें भव मे ईशान कल्प का देव, दसवें भव मे अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवें भव मे सनत्कुमार देव, बारहवें भव मे भारद्वाज, तेरहवें भव मे माहेन्द्र कल्प का देव, चौदहवें भव मे स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवें भव मे ब्रह्मकल्प का देव और सोलहवें भव मे विशाख-[illegible] का पुत्र विश्वभूति [illegible]। विश्वभूति सामाजिक दुराचार को देखकर विरक्त हो [illegible] और [illegible] घोर तपस्याएँ की। अपने [illegible] भव मे [illegible] और [illegible] वासुदेव त्रिपृष्ठ के रूप मे उसने [illegible] किया।

[illegible] के कारण उसका नाम त्रिपृष्ठ हुआ था। [illegible] प्रतिवासुदेव था— [illegible] त्रिपृष्ठ के लिए [illegible]

देवाधिप शक्रेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से यह ज्ञात कर लिया कि श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ मे अवस्थित हो चुके है तो उन्होने आसन से उठकर भगवान की वन्दना की। इन्द्र के मन मे यह विचार आया कि परम्परानुसार तीर्थंकरो का जन्म पराक्रमी और उच्चवशो मे ही होता रहा है, कभी भी क्षत्रियेतर कुल मे उन्होंने जन्म नही लिया। भगवान महावीर ने ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि मे कैसे जन्म लिया। यह आश्चर्यजनक ही नही एक अनहोनी बात है। इन्द्र ने निर्णय किया कि मुझे चाहिए कि ब्राह्मण कुल से निकालकर मैं उनका साहरण उच्च और प्रतापी वश मे कराऊँ। यह सोचकर इन्द्र ने हरिणैगमेषी को आदेश दिया कि भगवान को देवानन्दा के गर्भ से निकालकर राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी के गर्भ मे साहरण किया जाय।

उस समय रानी त्रिशला भी गर्भवती थी। हरिणैगमेषी ने अत्यन्त कौशल के साथ दोनो के गर्भों मे पारस्परिक परिवर्तन कर दिया। उस समय तक भगवान ने देवानदा के गर्भ मे ८२ रात्रियो का समय व्यतीत कर लिया था और उन्हे ३ ज्ञान भी प्राप्त हो चुके थे। वह आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि थी।

उस रात्रि मे ब्राह्मणी देवानदा ने स्वप्न देखा कि पूर्व मे जो १४ महान मगलकारी शुभ स्वप्न वह देख चुकी थी, वे सभी उसके मुख के मार्ग से बाहर निकल गये है। उसे अनुभव होने लगा कि जैसे उसके शुभगर्भ का हरण हो गया है और वह अतिशय दुखी हुई।

महावीर स्वामी का रानी त्रिशला के गर्भ मे साहरण होते ही उसने १४ मगलदायी दिव्य स्वप्नो का दर्शन किया। स्वप्न-दर्शन के प्रसग से अवगत होकर जिज्ञासावश महाराजा सिद्धार्थ ने विद्वान स्वप्न फलदर्शको को सादर आमत्रित किया। उन विद्वज्जनो ने स्वप्नो पर गहन चिन्तन कर निर्णय दिया कि इन दिव्य स्वप्नो का दर्शन करने वाली माता तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे भाग्यशाली पुत्र को जन्म देती है। पडितो की घोषणा से समग्र राज-परिवार मे प्रसन्नता की लहर दौड गयी।

गर्भगत अभिग्रह एव सकल्प

गर्भ मे शिशु की स्वाभाविक गतिविधियाँ रहती है। वह यथोचित रूप से सक्रमणशील रहता है। यह गर्भस्थ भगवान महावीर के लिए भी स्वाभाविक ही था। किन्तु एक दिन उन्हे इस बात का विचार हुआ कि मेरे गतिशील होने से माता को पीडा होती है। अत उन्होंने अपनी गति को स्थगित कर दिया। शुभेच्छा से प्रारम्भ किये गये इस कार्य की विलोम प्रतिक्रिया हुई। अपने गर्भ की स्थिरता और अचचलता देखकर माता त्रिशला रानी को चिता होने लगी कि या तो मेरे गर्भ का ह्रास हो गया है, या फिर उसका हरण कर लिया गया है। इस कल्पना मात्र से माता घोर-कष्टिता हो गयी। इस अप्रत्याशित नवीन स्थिति से राजपरिवार मे विषाद व्याप्त हो गया। अवधिज्ञान से भगवान इस सारी परिस्थिति से अवगत हो गये और उन्होंने पुन अपनी गति प्रारम्भ कर समस्त आशकाओ को निर्मूल कर दिया। मा के मन मे अपनी भावी

है, जो अपनी शक्ति, शौर्य और पराक्रम से अनीति, अनाचार और दुर्जनता का विनाश कर सत्य, न्याय और नीति को प्रतिष्ठित करने मे यथोचित योग दे सके। भगवान महावीर स्वामी के जीवन का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वे वीरता की इस कसौटी से परे थे, बहुत आगे थे। अपार-अपार शक्ति और सामर्थ्य के स्वामी होते हुए भी उन्होने विरोधियो को अपनी इस विशेषता के प्रयोग द्वारा पराजित नही किया। शाति, क्षमा, प्रेम आदि अन्य अमोघ अस्त्रो का ही प्रयोग कर विपक्षियो के हृदय को जीत लेने की भूमिका निभाने मे वे अद्वितीय थे। अत अहिंसा शक्ति से सम्पन्न भगवान 'वीर' नही, अपितु महावीर थे और इस आशय मे उन्होने अपने इस नाम को चरितार्थ कर दिया था।

बाल्य जीवन

क्षत्रियकुण्ड उस काल मे बडा सुख-सम्पन्न और वैभवशाली राज्य था और भगवान के प्रादुर्भाव से इसमे और भी चार चाँद लग गये थे। परम ऐश्वर्यशाली राज-परिवार के सुख-वैभव और माता-पिता के सघन ममत्व के वातावरण मे कुमार वर्धमान पालित-पोषित होने लगे। शिशु तन और मन से उत्तरोत्तर विकसित होने लगा और भगवान के जन्मजात गुण प्रतिभा, विवेक, तेज, ओज, धैर्य, शौर्य आदि मे आयु के साथ-साथ सतत रूप से अभिवृद्धि होने लगी। बाल्यावस्था से ही असाधारण बुद्धि और अद्‌भुत साहसिकता का परिचय भगवान के कार्य-कलापो से मिला करता था।

साहस एवं निर्भीकता

भगवान के जीवन की एक घटना तब की है जब उनकी आयु मात्र ८ वर्ष की थी। वे अपने बाल-सखाओ के साथ वृक्ष की शाखाओ मे उछल-कूद के एक खेल मे मग्न थे। इस वृक्ष पर एक भयानक नाग लिपटा हुआ था। जब बालको का ध्यान उसकी ओर गया तो उनकी सांस ही थम गई। भयातुर बालको मे भगदड मच गई। उस समय वर्धमान ने सभी को अभय दिया और साहस के साथ उस विषधर को उठा कर एक ओर रख दिया। यह नाग साधारण सर्प नही था। बालक वर्धमान के साहस और शक्ति की गाथाओ का गान तो सर्वत्र होने ही लगा था। एक बार स्वर्ग मे देव-राज इन्द्र ने इनकी इस विषय मे प्रशसा की थी और एक देव ने इद्र के कथन मे अविश्वास प्रकट करते हुए स्वय परीक्षा करके तुष्ट होने की ठान ली थी। वही देव नाग के वेश मे प्रभु की निर्भीकता एव साहस की परख करने आया था।

इसी प्रकार वर्धमान अन्य साथियो के साथ 'तनदूषक' नामक खेल खेल रहे थे, जिसमे क्रम-क्रम से दो बालक एक स्थान से किसी लक्ष्य तक दौडते है। इसमे पराजित होने वाला खिलाडी विजयी खिलाडी को कन्धे पर बिठाकर लौटता है। एक अपरिचित बालक के साथ वर्धमान का युग्म बना। प्रतिस्पर्धा मे वर्धमान जीते और नियमानुसार ज्योही वे पराजित बालक के कधे पर चढ़े, कि वह खिलाडी अपने देह के आकार को बढाने लगा। वह आकाश मे ऊपर से ऊपर को बढता ही चला गया। इस माया को

यौवन ने इस प्रकार न केवल तन अपितु मन के तेज को भी अभिवर्धित कर दिया था । उनका मनोबल एव चिंतन धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रसर होता रहा ।

जीवन और जगत के सम्बन्ध मे उनका प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव ज्यो-ज्यो वढने लगा वे उसकी विकारग्रस्तता से अधिकाधिक परिचित होते गये । उन्होंने देखा कि क्षत्रिय गण युद्ध मे जो शौर्य प्रदर्शन करते है—वह भी स्वार्थ की भावना के साथ होता है कि यदि खेत रह गये तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और विजयी हुए तो शत्रु की सम्पत्ति और कामिनियो पर हमारा अधिकार होगा ही । समाज मे बेचारे निर्बल वर्ग, सवलो के लिए आखेट बने रहते है, यहाँ तक कि जिन पर इन असहायो की रक्षा का दायित्व है, वे स्वय ही भक्षक बने हुए हैं । बाड ही खेतो को लील रही है । सर्वत्र लोभ, लिप्सा का अनत प्रसार है । धर्म जो जीवन-चक्र की धुरी है—वह स्वय ही विकृत हो रहा है और इसकी आड मे धर्माधिकारीगण स्वार्थवश निरीह जनता को कुमार्गों पर धकेल रहे है । धर्म के नाम पर हिंसा और कर्मकाण्ड की कुत्सित विभीषिका ने अपना आसन जमा रखा है । सामाजिक न्याय और आर्थिक समता का कही दर्शन नही होता और असहायजनो की रक्षा और सुविधा के लिए किसी के मन मे उत्साह नही है । वर्ग-भेद का भीषण रोग भी उन्होने समाज मे पाया जो पारस्परिक स्नेह, सौजन्य, सहानुभूति, हित-चिंतन आदि के स्थान पर घृणा, क्रोध, हिंसा, ईर्ष्या आदि दुर्गुणो को विकसित करता चला जा रहा है । इन दुर्दशाओ से वर्धमान का चित्त चीत्कार करने लगा था और भटकी हुई मानवता को सन्मार्ग पर लगाने के लिए वे प्रयत्नरत होने को सोचने लगे थे ।

जीवन और जगत के ऐसे स्वरूप का अनुभव कर महावीर और अधिक चिंतनशील रहने लगे । उन्होने निश्चय किया कि मैं ऐसे ससार से तटस्थ रहूँगा और उनकी गति वाहर के स्थान पर भीतर की ओर रहने लगी । वे अत्यन्त गम्भीर रहने लगे । मानव जाति को विकारमुक्त कर उसे सुख-शाति के वैभव से सम्पन्न करने का मार्ग खोजने की उत्कट प्रेरणा उनके मन मे जागने लगी । फलत भगवान आत्म-केन्द्रित रहने लगे और जगत से उदासीन हो गये । उनकी चिंतन-प्रवृत्ति सतत रूप से सशक्त होने लगी, जो उनके लिए विरक्ति का पहला चरण वनी । वे गहन से गहनतर गाभीर्य धारण करते चले गये ।

गृहस्थ-योगी

श्रमण भगवान की इस तटस्थ और उदासीन दशा ने माता-पिता को चिन्ताग्रस्त कर दिया । उन्हे भय होने लगा कि कही पुत्र असमय ही वीतरागी न हो जाय और सकट को दूर करने के लिए वे भगवान का विवाह रचाने की योजना वनाने लगे । भगवान के योग्य वधू की खोज आरम्भ हुई । यह सारा उपक्रम देखकर महावीर तनिक विचित्र-सा अनुभव करने लगे । प्रारम्भ मे तो उन्होंने परिणय-सूत्र-वन्धन के लिए अपनी स्पष्ट असहमति व्यक्त कर दी, किन्तु उनके समक्ष एक समस्या और भी थी । वे अपने

रहे थे और अद्‌भुत विपन्नता का समय व्यतीत कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति मे अपने प्रिय भ्राता वर्धमान का मन्तव्य सुनकर उनके हृदय को एक और भीषण आघात लगा। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा कि इस असहाय अवस्था मे मुझे तुमसे बडा सहारा मिल रहा है। तुम भी यदि मुझे एकाकी छोड गये तो मेरा और इस राज्य का क्या भविष्य होगा ? इस विषय मे कुछ भी कहा नही जा सकता। कदाचित् मेरा जीवित रहना ही असम्भव हो जायगा। अभी तुम गृह-त्याग न करो....इसी मे हम सब का शुभ है। इस हार्दिक अभिव्यक्ति ने विरक्त महावीर के निर्मल मन को द्रवित कर दिया और वे अपने आग्रह को दुहरा नही सके। नन्दिवर्धन के अश्रु-प्रवाह मे वर्धमान की मानसिक दृढता बह निकली और उन्होने अपने भावी कार्यक्रम को आगामी कुछ समय तक के लिए स्थगित रखने का निश्चय कर लिया।

अग्रज नन्दिवर्धन की मनोकामना के अनुरूप महावीर अभी गृहस्थ तो बने रहे, किन्तु उनकी उदासीनता और गहन होती गयी। दो वर्ष की यह अवधि उन्हे अत्यन्त दीर्घ लगी, क्योकि जिस लक्ष्य प्राप्ति की कामना उनकी मानसिक साध को तीव्र से तीव्र-तर करती चली जा रही थी—उस ओर चरण बढाने मे भी वे स्वय को विवश अनुभव कर रहे थे। स्वेच्छा से ही उन्होने अपने चरणो मे कठिन लोह-शृ खलाओ के बधन डाल लिये थे। किन्तु साधक को अपने इस स्वरूप के निर्वाह के लिए विशेष परिवेश और स्थल की अपेक्षा नही रहती। वह तो जहाँ भी और जिन परिस्थितियो व वाता-वरण मे रहे, उनकी प्रतिकूलता से अप्रभावित रह सकता है। सच्चे अनासक्तो के इस लक्षण मे भगवान तनिक भी पीछे नही थे।

भगवान ने इस अवधि मे राजप्रासाद और राजपरिवार मे रहकर भी योगी का-सा जीवन व्यतीत किया और अपनी अद्‌भुत सयम-गरिमा का परिचय दिया। अपनी पत्नी को उन्होने बहनवत् व्यवहार दिया और समस्त उपलब्ध सुख-सुविधाओ के प्रति घोर विकर्षण उनके मन मे बना रहा। अब क्या वन और क्या राजभवन ? उनके लिए राजभवन ही वन था। अद्‌भुत गृहस्थ-योगी का स्वरूप उनके व्यक्तित्व मे दृश्यमान होता था।

महाभिनिष्क्रमण

भगवान को अत्यन्त दीर्घ अनुभव होने वाली इस अवधि की समाप्ति भी अन्तत हुई ही। लोकान्तिक देवो ने आकर वर्धमान से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की और वे वर्षीदान मे प्रवृत्त हुए। वर्षपर्यन्त उदारतापूर्वक वे दान देते रहे और मार्गशीर्ष कृष्णा १० का वह शुभ समय भी आया जब भगवान ने गृह-त्याग कर आत्म और जगत कल्याण की भी यात्रा आरम्भ की। इस विकट यात्रा का प्रथम चरण अभिनिष्क्रमण द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इन्द्रादि देवो द्वारा महाभिनिष्क्रमणोत्सव का आयोजन किया गया। अपने नेत्रो को सफल कर लेने की अभिलाषा के साथ हजारो लाखो जन दूर-दूर से इस समारोह मे सम्मिलित होने को आये। चन्द्रप्रभा शिविका मे आरूढ होकर

रहे थे और अद्भुत विपन्नता का समय व्यतीत कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति मे अपने प्रिय भ्राता वर्धमान का मन्तव्य सुनकर उनके हृदय को एक और भीषण आघात लगा। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा कि इस असहाय अवस्था मे मुझे तुमसे बडा सहारा मिल रहा है। तुम भी यदि मुझे एकाकी छोड गये तो मेरा और इस राज्य का क्या भविष्य होगा ? इस विषय मे कुछ भी कहा नही जा सकता। कदाचित् मेरा जीवित रहना ही असम्भव हो जायगा। अभी तुम गृह-त्याग न करो····इसी मे हम सब का शुभ है। इस हार्दिक अभिव्यक्ति ने विरक्त महावीर के निर्मल मन को द्रवित कर दिया और वे अपने आग्रह को दुहरा नही सके। नन्दिवर्धन के अश्रु-प्रवाह मे वर्धमान की मानसिक दृढता वह निकली और उन्होने अपने भावी कार्यक्रम को आगामी कुछ समय तक के लिए स्थगित रखने का निश्चय कर लिया।

अग्रज नन्दिवर्धन की मनोकामना के अनुरूप महावीर अभी गृहस्थ तो बने रहे, किन्तु उनकी उदासीनता और गहन होती गयी। दो वर्ष की यह अवधि उन्हे अत्यन्त दीर्घ लगी, क्योकि जिस लक्ष्य प्राप्ति की कामना उनकी मानसिक साध को तीव्र से तीव्र-तर करती चली जा रही थी—उस ओर चरण बढाने मे भी वे स्वय को विवश अनुभव कर रहे थे। स्वेच्छा से ही उन्होने अपने चरणो मे कठिन लोह-शृ खलाओ के बधन डाल लिये थे। किन्तु साधक को अपने इस स्वरूप के निर्वाह के लिए विशेष परिवेश और स्थल की अपेक्षा नही रहती। वह तो जहाँ भी और जिन परिस्थितियो व वाता-वरण मे रहे, उनकी प्रतिकूलता से अप्रभावित रह सकता है। सच्चे अनासक्तो के इस लक्षण मे भगवान तनिक भी पीछे नही थे।

भगवान ने इस अवधि मे राजप्रासाद और राजपरिवार मे रहकर भी योगी का-सा जीवन व्यतीत किया और अपनी अद्भुत सयम-गरिमा का परिचय दिया। अपनी पत्नी को उन्होने बहनवत् व्यवहार दिया और समस्त उपलब्ध सुख-सुविधाओ के प्रति घोर विकर्षण उनके मन मे बना रहा। अब क्या वन और क्या राजभवन ? उनके लिए राजभवन ही वन था। अद्भुत गृहस्थ-योगी का स्वरूप उनके व्यक्तित्व मे दृश्यमान होता था।

महाभिनिष्क्रमण

भगवान को अत्यन्त दीर्घ अनुभव होने वाली इस अवधि की समाप्ति भी अन्तत हुई ही। लोकान्तिक देवो ने आकर वर्धमान से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की और वे वर्षीदान मे प्रवृत्त हुए। वर्षपर्यन्त उदारतापूर्वक वे दान देते रहे और मार्गशीर्ष कृष्णा १० का वह शुभ समय भी आया जब भगवान ने गृह-त्याग कर आत्म और जगत कल्याण की भी यात्रा आरम्भ की। इस विकट यात्रा का प्रथम चरण अभिनिष्क्रमण द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इन्द्रादि देवो द्वारा महाभिनिष्क्रमणोत्सव का आयोजन किया गया। अपने नेत्रो को सफल कर लेने की अभिलाषा के साथ हजारो लाखो जन दूर-दूर से इस समारोह मे सम्मिलित होने को आये। चन्द्रप्रभा शिविका मे आरूढ होकर

भगवान महावीर के लिए भी साधना का यह मार्ग कम कटकाकीर्ण न था। ३० वर्ष की आयु मे प्रव्रज्या अगीकार करने वाले भगवान को ४२ वर्ष की आयु मे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। साढ़े १२ वर्ष का यह कठोर साधनाकाल भगवान के लिए विकट उपसर्गो और परीषहो का काल भी रहा। भगवान की तो मान्यता ही यह थी कि जो कठिन परीषहो और उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर लेता है—वही वास्तविक साधक है। उनकी धारणा यह भी थी कि कष्टो को सहन करके ही हम अपने पापो को नष्ट कर सकते है। इन दृष्टिकोणो के कारण महावीर स्वामी ने नैसर्गिक और स्वाभाविक रूप से आने वाले कष्टो को तो सहन किया ही—इसके अतिरिक्त उन्होने कई कष्टो को स्वय भी निमत्रित किया। उन्होने उन प्रदेशो मे ही अधिकतर विहार किया जहाँ विधर्मी, क्रूरकर्मी, असज्जन लोगों का निवास था और ये लोग दुर्जनतावश भगवान को नाना भाँति यातनाएँ देते रहते थे। ऐसे-ऐसे अनेक प्रसग भी बहुचर्चित है जिनमे न केवल उपसर्ग एव परीषहो की भयकरता, अपितु श्रमण भगवान की अपार सहिष्णुता एव क्षमाशीलता व अहिंसावृत्ति का भी परिचय मिलता है।

गोपालक-प्रसंग

सर्वथा आत्मलीन अवस्था मे भगवान किसी वन मे साधना-व्यस्त थे और एक गोपालक अपने पशुओ सहित आ पहुँचा। गोदोहन का समय था, अत उसे घर जाना था, किन्तु उसके साथ जो बैल थे, तब तक उनकी देखभाल कौन करेगा ? यह समस्या उसके सामने थी। उसने भगवान को यह काम सौप दिया और बिना उत्तर सुने ही चल दिया। जब वह लौटा तो देखा कि महावीर अब भी ध्यानमग्न है और उसके बैल कहीं दिखाई नही दे रहे। उसने भगवान को अनेक कटु और अपशब्द कहे और रोष के साथ वह समीप के क्षेत्र मे अपने बैल खोजने लगा, किन्तु कही भी उनका पता न लगा। हिंसा और आवेश के भावो के साथ जब वह पुन भगवान के समीप आया तो उसने देखा कि भगवान के चरणो मे ही उसके बैल बैठे है। गोपालक ने बौखला कर बैलो की रस्सी से ध्यानलीन भगवान के तन पर कोड़े बरसाना आरभ कर दिया। आघात सहकर भी भगवान ने उफ् तक नही किया। उनका ध्यान यथावत् बना रहा। सहसा गोपालक के कोड़े को पीछे से किसी ने थाम लिया। उसने जो मुड़ कर देखा तो पाया कि एक दिव्य पुरुष खड़ा है, जिसने उसे प्रतिबोध दिया कि तू जिसे यातना दे रहा है, वह तो भगवान महावीर है। तू कदाचित् यह जानता नही है। यह सुनकर गोपालक अपने क्रूर कर्म पर पछताने और दुखित होने लगा। उसे घोर आत्मग्लानि हुई। भगवान के चरणो मे नमन कर वह क्षमा-याचना करने लगा।

कुछ समयोपरान्त भगवान का ध्यान समाप्त हुआ और उन्होंने देखा कि वह दिव्य पुरुष अब भी उनके समक्ष करबद्ध अवस्था मे खड़ा है। यह और कोई नही स्वय इन्द्र था। इन्द्र ने भगवान से निवेदन किया कि आपको अपनी साधना मे अनेक-

नेक कष्ट भोगने पड़ेंगे। दुर्जन इसमे तनिक भी पीछे नही रहेगे। प्रभु, आप आज्ञा दें तो मैं आपके साथ रहकर इन बाधाओ को दूर करता चलूं।

भगवान को इसकी आवश्यकता नही थी। उन्होने उत्तर दिया कि मेरी साधना स्वाश्रयी है। अपने पुरुषार्थ से ही ज्ञान व मोक्ष सुलभ हो सकता है। कोई भी अन्य इसमे सहायक नही हो सकता। आत्मबल ही साधक का एकमात्र आश्रय होता है। भगवान ने इस सिद्धान्त का आजीवन निर्वाह किया।

मोराक आश्रम प्रसग पांच प्रतिज्ञाएँ

स्वकेन्द्रित भगवान महावीर का बाह्य जगत से समस्त सम्बन्ध टूट चुका था। वे तो आन्तरिक जगत को ही सर्वस्व मानकर, उसी मे विहार किया करते थे। उनका भौतिक तन ही इस ससार मे था। साधक महावीर विहार करते-करते एक समय मोराकग्राम के समीप पहुँचे, जहाँ तापसो का एक आश्रम था। दुइज्जत इस आश्रम के कुलपति थे और ये भगवान के पिता के मित्र थे। कुलपतिजी ने भगवान से आग्रह किया कि वे इसी आश्रम मे चातुर्मास व्यतीत करे। भगवान ने भी इस आग्रह को स्वीकार कर लिया और वे एक पर्ण कुटिया मे खडे होकर ध्यानलीन हो गये।

सभी तापसो की पृथक-पृथक कुटियाएँ इस आश्रम मे थी और इनका निर्माण घास-फूस से ही किया गया था। अभी वर्षा भली-भांति प्रारम्भ नही हुई थी और धरती पर घास नही उग पायी थी। अत समीप की गायें आश्रम मे घुस कर इन कुटियो की घास चर लिया करती थी। अन्य तापस तो इन गायो को ताड कर अपनी कुटियाओ को बचा लेते थे, किन्तु ध्यानमग्न रहने वाले भगवान को इतना अवकाश कहाँ ? वे तो वैसे भी मोह से परे बहुत दूर हो गये थे। ये अन्य तापस ही अपनी कुटिया के साथ-साथ भगवान की कुटिया की रक्षा भी कर लिया करते थे।

एक अवसर पर जब सभी तापस आश्रम से बाहर कही गये हुए थे, तो गायो ने पीछे से सब कुछ चौपट कर दिया। वे जब लौटे तो आश्रम की दुर्दशा देखकर बड़े दुखी हुए। वे भगवान पर भी क्रोधित हुए कि पीछे से इतनी भी चिन्ता वे नही रख सके। तापस जन रोष मे भरकर भगवान की कुटिया की ओर चले। वहाँ जो उन्होने देखा, तो सन्न रह गये। उनकी कुटिया की सारी घास भी चर ली गई थी और वे अब भी ध्यानलीन ज्यो के त्यो ही खडे थे। उन्हे जगत की कोई सुधि ही नही थी। इस घोर और अटल तपस्या के कारण तापसो के मन मे ईर्ष्या की अग्नि प्रचलित हो गई। उन्होने कुलपति की सेवा मे उपस्थित होकर भगवान के विरुद्ध प्रवाद किया कि वे अपनी कुटिया तक की रक्षा नही कर पाये।

कुलपति दुइज्जत ने यह सुनकर आश्चर्य व्यक्त किया और भगवान से कहा कि तुम कैसे राजकुमार हो ? राजपुत्र तो समग्र मातृभूमि की रक्षा के लिए भी सदा

भगवान महावीर के लिए भी साधना का यह मार्ग कम कटकाकीर्ण न था। ३० वर्ष की आयु मे प्रव्रज्या अगीकार करने वाले भगवान को ४२ वर्ष की आयु मे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। साढ़े १२ वर्ष का यह कठोर साधनाकाल भगवान के लिए विकट उपसर्गों और परीषहो का काल भी रहा। भगवान की तो मान्यता ही यह थी कि जो कठिन परीषहो और उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर लेता है—वही वास्तविक साधक है। उनकी धारणा यह भी थी कि कष्टो को सहन करके ही हम अपने पापो को नष्ट कर सकते है। इन दृष्टिकोणो के कारण महावीर स्वामी ने नैसर्गिक और स्वाभाविक रूप से आने वाले कष्टो को तो सहन किया ही—इसके अतिरिक्त उन्होंने कई कष्टो को स्वय भी निमत्रित किया। उन्होने उन प्रदेशो मे ही अधिकतर विहार किया जहाँ विधर्मी, क्रूरकर्मी, असज्जन लोगों का निवास था और ये लोग दुर्जनतावश भगवान को नाना भाँति यातनाएँ देते रहते थे। ऐसे-ऐसे अनेक प्रसग भी बहुचर्चित हैं जिनसे न केवल उपसर्ग एव परीषहो की भयकरता, अपितु श्रमण भगवान की अपार सहिष्णुता एव क्षमाशीलता व अहिंसावृत्ति का भी परिचय मिलता है।

गोपालक-प्रसंग

सर्वथा आत्मलीन अवस्था मे भगवान किसी वन मे साधना-व्यस्त थे और एक गोपालक अपने पशुओ सहित आ पहुँचा। गोदोहन का समय था, अत उसे घर जाना था, किन्तु उसके साथ जो बैल थे, तब तक उनकी देखभाल कौन करेगा ? यह समस्या उसके सामने थी। उसने भगवान को यह काम सौंप दिया और बिना उत्तर सुने ही चल दिया। जब वह लौटा तो देखा कि महावीर अब भी ध्यानमग्न है और उसके बैल कही दिखाई नही दे रहे। उसने भगवान को अनेक कटु और अपशब्द कहे और रोष के साथ वह समीप के क्षेत्र मे अपने बैल खोजने लगा, किन्तु कही भी उनका पता न लगा। हिंसा और आवेश के भावो के साथ जब वह पुन भगवान के समीप आया तो उसने देखा कि भगवान के चरणो मे ही उसके बैल बैठे हैं। गोपालक ने बौखला कर बैलो की रस्सी से ध्यानलीन भगवान के तन पर कोडे बरसाना आरभ कर दिया। आघात सहकर भी भगवान ने उफ् तक नही किया। उनका ध्यान यथावत् बना रहा। सहसा गोपालक के कोडे को पीछे से किसी ने थाम लिया। उसने जो मुड कर देखा तो पाया कि एक दिव्य पुरुष खडा है, जिसने उसे प्रतिबोध दिया कि तू जिसे यातना दे रहा है, वह तो भगवान महावीर है। तू कदाचित् यह जानता नहीं है। यह सुनकर गोपालक अपने क्रूर कर्म पर पछताने और दुखित होने लगा। उसे तीव्र आत्मग्लानि हुई। भगवान के चरणो मे नमन कर वह क्षमा-याचना करने लगा।

कुछ समयोपरान्त भगवान का ध्यान समाप्त हुआ और उन्होंने देखा कि वह दिव्य पुरुष अब भी उनके समक्ष करबद्ध अवस्था मे खडा है। यह और कोई नही स्वय इन्द्र था। इन्द्र ने भगवान से निवेदन किया कि आपको अपनी साधना मे अनेका-

हिंस्र सिंह, विशालकाय दैत्य, भयकर विषधर आदि विभिन्न रूप धरकर भगवान को आतकित करने के प्रयत्न करता रहा। अनेक प्रकार से भगवान को उसने असह्य, घोर कष्ट पहुँचाये। साधना-अटल महावीर तथापि रचमात्र भी चचल नही हुए। वे अपनी साधना मे तो क्या विघ्न पडने देते, उन्होने आह्-कराह् तक नही की।

जब सर्वाधिक प्रयत्न करके और अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग करके भी यक्ष भगवान को किसी प्रकार कोई हानि नही पहुँचा सका, तो वह परास्त होकर लज्जित होने लगा। उसने यह विचार भी किया कि सन्त कोई असाधारण व्यक्ति नही है—महामानव है। यह धारणा बनते ही वह अपनी समस्त हिंसावृत्ति का त्याग कर भगवान के चरणो मे नमन करने लगा। भविष्य मे किसी को त्रस्त न करने का प्रण लेकर यक्ष ने वहाँ से प्रस्थान किया। भगवान वही साधनालीन खडे ही रहे।

चण्डकौशिक का उद्धार . अमृत भाव की विजय

एक और प्रसग साधक महावीर भगवान के जीवन का है, जो हिंसा पर अहिंसा की विजय का प्रतीक है। एक बार भगवान को कनकखल से श्वेताम्बी पहुँचना था। इस हेतु दो मार्ग थे। एक मार्ग यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक लम्बा था, किन्तु उसी का उपयोग किया जाता था और दूसरा मार्ग अत्यन्त लघु होते हुए भी बडा भयकर था। अत कोई इस मार्ग से यात्रा नही करता था। इसमे आगे एक घने वन मे भीषण नाग चण्डकौशिक का निवास था जो 'दृष्टि-विष' सर्प था। मात्र अपनी दृष्टि डालकर ही यह जीवो को डस लिया करता था। इसके भीषण विष की विकरालता के विषय मे यह प्रसिद्ध था कि उसकी फूत्कार मात्र से उस वन के सारे जीव-जन्तु तो मर ही गये हैं, सारी वनस्पति भी दग्ध हो गयी है। इस प्रचण्ड नाग का बडा भारी आतक था।

भगवान ने श्वेताम्बी जाने के लिए इसी लघु किन्तु अति भयकर मार्ग को चुना। कनकखलवासियो ने भगवान को इस भयकर विपत्ति से अवगत कराया और इस मार्ग पर न जाने का आग्रह भी किया किन्तु भगवान का निश्चय तो अटल था। वे इसी मार्ग पर निर्भीकतापूर्वक अग्रसर होते रहे। भयकर विष को मानो अमृत का प्रवाह पराजित करने को सोत्साह बढ रहा हो।

भगवान सीधे जाकर चण्डकौशिक की बाँबी पर ही खडे होकर ध्यानलीन हो गये। कष्ट और सकट को निमन्त्रित करने का और कोई उदाहरण इस प्रसग की समता भला क्या करेगा? घोर विष को अमृत बना देने की शुभाकाक्षा ही भगवान की अन्त-प्रेरणा थी, जिसके कारण इस भयप्रद स्थल पर भी वे अचचल रूप से ध्यानलीन बने रहे।

भयानक विष से वातावरण को दूषित करता हुआ चण्डकौशिक भू-गर्भ से बाहर निकल आया और अपने से प्रतिद्वन्द्विता रखने वाले एक मनुष्य को देखकर वह हिंसा के प्रबल भाव से भर गया। मेरी प्रचण्डता से यह भयभीत नही हुआ और मेरे निवास-स्थान पर ही आकर खडा हो गया है—यह देखकर वह बौखला गया और उसने

सन्नद्ध रहते है और प्राणो की बाजी भी लगा देते हैं और तुम हो कि अपनी कुटिया की भी रक्षा नही कर पाये। पक्षी भी तो अपने घोसलो की रक्षा का दायित्व सावधानी के साथ पूरा करते है। भगवान ने आक्षेप का कोई प्रतिकार नही किया, सर्वथा मौन रहे। किन्तु उनका मन अवश्य सक्रिय हो गया। वे सोचने लगे ये लोग मेरी अवस्था और मनोवृत्तियो से अपरिचित है। मेरे लिए क्या कुटिया और क्या राजभवन ? यदि मुझे कुटिया के लिए ही मोह रखना होता तो राजप्रासाद ही क्यो त्यागता ? उन्होंने अनुभव किया कि इस आश्रम मे साधना की अपेक्षा साधनो का अधिक महत्त्व माना जाता है, जो राग उत्पन्न करता है। अत उन्होने निश्चय कर लिया कि ऐसे वैराग्य-बाधक स्थल पर मैं नही रहूँगा। वे निश्चयानुसार आश्रम त्याग कर चुपचाप विहार कर गये। इसी समय भगवान ने उन ५ प्रतिज्ञाओ को धारण किया जो आज भी सच्चे साधक के लिए आदर्श है—

(१) ईर्ष्या, वैमनस्य का भाव रखने वालो के साथ निवास न करना।

(२) साधना के लिए सुविधाजनक, सुरक्षित स्थल का चुनाव नही करना। कायोत्सर्ग के भाव के साथ शरीर को प्रकृति के अधीन छोड देना।

(३) भिक्षा, गवेषणा, मार्ग-शोध और प्रश्नो के उत्तर देने के प्रसगो के अतिरिक्त सर्वथा मौन रहना।

(४) कर-पात्र मे ही भोजन ग्रहण करना।

(५) अपनी आवश्यकता को पूरा करने के प्रयोजन से किसी गृहस्थ को प्रसन्न करने का प्रयत्न नही करना।

यक्ष बाधा : अटल निश्चय

विचरणशील साधक महावीर स्वामी अस्थिकग्राम मे पहुँचे। ग्राम के समीप ही एक प्राचीन और ध्वस्त मदिर था, जिसमे यक्ष बाधा बनी रहती है—इस आशय का सवाद भगवान को भी प्राप्त हो गया। ग्रामवासियो ने यह सूचना देते हुए भगवान से अनुरोध किया था कि वे वहाँ विश्राम न करें। वास्तव मे वह मन्दिर सुनसान और बडा डरावना था। रात्रि मे कोई यहाँ रुकता ही नही था। यदि कोई दुस्साहस कर बैठता, तो वह जीवित नही बच पाता था।

भगवान ने तो साधना के लिए सुरक्षित स्थान न चुनने का व्रत धारण किया था। मन मे सर्वथा निर्भीक थे ही। अत उन्होने उसी मन्दिर को अपना साधना-स्थल बनाया। वे वहाँ खडे होकर ध्यानस्थ हो गये। ऐसे निडर, साहसी, व्रतपालक और अटल निश्चयी थे—भगवान महावीर स्वामी।

रात्रि के घोर अन्धकार मे अत्यन्त भीषण अट्टहास उस मन्दिर मे गूँजने लगा। भयानक वातावरण वहाँ छा गया, किन्तु भगवान निश्चल ध्यानलीन ही रहे। यक्ष को अपने पराक्रम की यह उपेक्षा असह्य हो उठी। वह क्रुद्ध हो उठा और विकराल हाथी,

सगम ने कुछ ऐसी माया रची कि भगवान को आभास होने लगा, जैसे उनके स्वजन एकत्रित हुए है। पत्नी यशोदा उनके समक्ष रो-रोकर विलाप कर रही है और अपनी दुर्दशा का वर्णन कर रही है कि नन्दिवर्धन ने उसे अनादृत कर राजभवन से निष्कासित कर दिया है। पिता के वियोग मे प्रियदर्शना भी अत्यन्त दुखी है। भगवान के मन को ये प्रवचनाएँ भी क्या प्रभावित करती ? सगम को पराजय पर पराजय मिलती जा रही थी और भगवान अडिगता की कसौटी पर खरे उतरते जा रहे थे।

निदान, सगम ने अबकी वार फिर नया दाँव रखा। सारी प्रकृति सहसा सुरम्य हो उठी। सर्वत्र वासतिक मादकता का प्रसार हो गया। शीतल-मन्द, सुगधित पवन प्रवाहित होने लगी। भाँति-भाँति के सुमन मुस्कराने लगे। भ्रमरो की गु जार से सारा क्षेत्र भर गया। ऐसे सुन्दर और सरस वातावरण मे भगवान के समक्ष अपनी ५ अन्य सखियो के साथ एक अनुपम रूपमती युवती आयी। उसका कोमल, सुरगी, सौन्दर्य सम्पन्न अधखुला अग भाँति-भाँति के आभूपणो से सज्जित था और अत्यन्त कलात्मकता के साथ किया गया शृ गार उसके रूप को अद्भुत निखार दे रहा था। यह सुन्दर भाँति-भाँति के हावभावो, आगिक चेष्टाओ आदि से भगवान को अपनी ओर आकर्षित करने लगी। भगवान का चित्त भी अपनी ओर आकृष्ट करने मे विफल रहने वाली यह सुन्दरी अन्तत वडी निराश और क्षुब्ध हुई। यह विफलता सुन्दरी की नही स्वय देव सगम की थी। वह बडा कु ठित हो चला था। वह सोच भी नही पा रहा था कि पराजय की लज्जा से वचने के लिए अव क्या उपाय किया जाय ? किस प्रकार महावीर को चचल और अस्थिर सिद्ध किया जाय ?

खीझ की अकुलाहट से ग्रस्त सगम ने फिर एक नवीन सकट उपस्थित कर दिया। प्रात काल हो गया था। कुछ चोर राजकीय कर्मचारियो को साथ लेकर वहाँ उपस्थित हुए। इन चोरो ने भगवान की ओर इगित करते हुए राज्य-कर्मचारियो से कहा कि यही हमारा गुरु है। इसने हमे चोरी करना सिखाया है। क्रुद्ध होकर कर्मचारियो ने भगवान की देह पर डडे बरसाना आरम्भ कर दिया। शक्ति और अधिकार मे अधे इन कर्मचारियो ने भगवान को जितना दण्डित कर सकते थे, किया। किन्तु महावीर स्वामी तो सहिष्णुता की प्रतिमा ही थे। वे मौन बने रहे, अडिग बने रहे। उनकी साधना यथावत् निरन्तरित रही।

इस प्रकार सगम भगवान को ६ माह की दीर्घावधि तक पीडित करता रहा, किन्तु उसे अपने उद्देश्य मे रचमात्र भी सफलता नही मिली। अन्त मे उसे स्पष्टत अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी। वह भगवान से कहने लगा कि धन्य हैं आप और आपकी साधना। मैं समस्त क्रूर कर्मों और माया का प्रयोग करके भी आपको विचलित नही कर पाया। पराजित होकर ही मुझे प्रस्थान करना पड रहा है।

भगवान महावीर का हृदय इस समय असीम करुणा से भर गया। उनके नेत्र अश्रुपूरित थे। विदा होते हुए जब सगम ने इस स्थिति का कारण पूछा तो भगवान

पूर्ण शक्ति के साथ भगवान के चरण पर दंशाघात किया। इस कराल प्रहार से भी भगवान की साधना में कोई व्याघात नहीं आया। अपनी इस प्रथम पराजय से पीड़ित होकर नाग ने तब तो अगम्य स्थलों पर भगवान को डस लिया, किन्तु भगवान की तल्लीनता में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आया। इस पराभव ने सर्प के आत्मबल को ढहा दिया। वह निर्बल और निस्तेज सिद्ध हो रहा था। यह विष पर अमृत की अनुपम विजय थी।

तभी भगवान के मुख से प्रभावी और अत्यन्त मधुरवाणी मुखरित हुई—"बुज्झ बुज्झ किं न बुज्झई।" सर्प, तनिक सोच—अपने क्रोध को शान्त कर। अमृतोपम इस वाणी से चण्डकौशिक का भीषण विष शान्त हो गया। भगवान के मुखश्री का वह टकटकी लगाकर दर्शन करता रहा। ज्ञान की प्राप्ति कर उसे अतीत के कुकर्म स्मरण होने लगे और उसे आत्मग्लानि होने लगी। चण्डकौशिक का कायापलट ही हो गया। उसने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया। अन्य प्राणियों से कष्टित होकर भी उसने कभी आक्रमण नहीं किया। अहिंसक वृत्ति को अपना लेने के कारण चण्डकौशिक के प्रति सारे क्षेत्र में श्रद्धा का भाव फैल गया और ग्रामवासी उस पर घृत-दुग्धादि पदार्थ चढाने लगे। इन पदार्थों के कारण चींटियाँ उस पर चढ गयी और उसकी सारी देह को ही नोच-नोचकर खा गयी। किन्तु उसके मन में प्रतिहिंसा का भाव न आया। इस प्रकार वह त्याग कर अपने जीवन के अन्तिम काल के शुभाचरण के कारण चण्डकौशिक का जीव ८वें देवलोक का अधिकारी बना।

संगम का विकट उपसर्ग

इस प्रकार भगवान ने उपसर्गों एवं परीषहों को सहिष्णुतापूर्वक झेलते हुए जब अपनी साधना के १० वर्ष व्यतीत कर लिये, तब की घटना है। स्वर्ग में, देवसभा में महाराज इन्द्र ने भगवान की साधना-दृढता, करुणा, अहिंसा, क्षमाशीलता आदि सद्गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देवगण चकित रहे, किन्तु एक मनुष्य की इतनी प्रशंसा एक देव संगम सहन न कर पाया। भयानक कुविचार के साथ वह पृथ्वी लोक पर आया। [illegible] क्षेत्र में पेढालग्राम के बाहर पोलाश चैत्य में महाप्रतिमा तप कर रहे थे। [illegible]। संगम ने [illegible] भगवान को नानाविधि से यातनाएँ देना आरम्भ किया। [illegible] वातावरण अत्यन्त भयानक हो गया। [illegible] को धूलियुक्त कर दिया। [illegible] धारण कर प्रहार [illegible], किन्तु भगवान की साधना अटल बनी रही।

[illegible] मतवाला हाथी, [illegible] भगवान को आतंकित और [illegible] करने [illegible] किन्तु उसका यह दाँव भी खाली गया। भगवान पर [illegible] कोई प्रभाव नहीं [illegible]। [illegible] भगवान को [illegible] न देखकर उसने [illegible] किया। [illegible] भगवान के मन पर प्रहार करने लगा।

सगम ने कुछ ऐसी माया रची कि भगवान को आभास होने लगा, जैसे उनके स्वजन एकत्रित हुए हैं। पत्नी यशोदा उनके समक्ष रो-रोकर विलाप कर रही है और अपनी दुर्दशा का वर्णन कर रही है कि नन्दिवर्धन ने उसे अनादृत कर राजभवन से निष्कासित कर दिया है। पिता के वियोग मे प्रियदर्शना भी अत्यन्त दुखी है। भगवान के मन को ये प्रवचनाएँ भी क्या प्रभाविन करती ? सगम को पराजय पर पराजय मिलती जा रही थी और भगवान अडिगता की कसौटी पर खरे उतरते जा रहे थे।

निदान, सगम ने अवकी वार फिर नया दाँव रखा। सारी प्रकृति सहसा सुरम्य हो उठी। सर्वत्र वासतिक मादकता का प्रसार हो गया। शीतल-मन्द, सुगधित पवन प्रवाहित होने लगी। भाँति-भाँति के सुमन मुस्कराने लगे। भ्रमरो की गु जार से सारा क्षेत्र भर गया। ऐसे सुन्दर और मरस वातावरण मे भगवान के समक्ष अपनी ५ अन्य सखियो के साथ एक अनुपम रूपमती युवयी आयी। उसका कोमल, सुरगी, सौन्दर्य सम्पन्न अधखुला अग भाँति-भाँति के आभूपणो से सज्जित था और अत्यन्त कलात्मकता के साथ किया गया शृ गार उसके रूप को अद्भुत निखार दे रहा था। यह सुन्दर भाँति-भाँति के हावभावो, आगिक चेष्टाओ आदि से भगवान को अपनी ओर आकर्पित करने लगी। भगवान का चित्त भी अपनी ओर आकृष्ट करने मे विफल रहने वाली यह सुन्दरी अन्तत वडी निराश और क्षुब्ध हुई। यह विफलता सुन्दरी की नही स्वय देव सगम की थी। वह वडा कु ठित हो चला था। वह सोच भी नही पा रहा था कि पराजय की लज्जा से वचने के लिए अव क्या उपाय किया जाय ? किस प्रकार महावीर को चचल और अस्थिर सिद्ध किया जाय ?

खीझ की अकुलाहट से ग्रस्त सगम ने फिर एक नवीन सकट उपस्थित कर दिया। प्रात काल हो गया था। कुछ चोर राजकीय कर्मचारियो को साथ लेकर वहाँ उपस्थित हुए। इन चोरो ने भगवान की ओर इगित करते हुए राज्य-कर्मचारियो से कहा कि यही हमारा गुरु है। इसने हमे चोरी करना सिखाया है। क्रुद्ध होकर कर्म-चारियो ने भगवान की देह पर डडे वरसाना आरम्भ कर दिया। शक्ति और अधिकार मे अधे इन कर्मचारियो ने भगवान को जितना दण्डित कर सकते थे, किया। किन्तु महावीर स्वामी तो सहिष्णुता की प्रतिमा ही थे। वे मौन बने रहे, अडिग बने रहे। उनकी साधना यथावत् निरन्तरित रही।

इम प्रकार सगम भगवान को ६ माह की दीर्घावधि तक पीडित करता रहा, किन्तु उसे अपने उद्देश्य मे रचमात्र भी सफलता नही मिली। अन्त मे उसे स्पष्टत अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी। वह भगवान से कहने लगा कि धन्य है आप और आपकी साधना। मैं समस्त क्रूर कर्मों और माया का प्रयोग करके भी आपको विचलित नही कर पाया। पराजित होकर ही मुझे प्रस्थान करना पड रहा है।

भगवान महावीर का हृदय इस समय असीम करुणा से भर गया। उनके नेत्र अश्रु-पूरित थे। विदा होते हुए जब सगम ने इस स्थिति का कारण पूछा तो भगवान

ने उत्तर मे कहा कि मेरे सम्पर्क मे आने वालो का पाप-भार कम हो जाता है, किन्तु तू तो और अधिक कर्मों को बांधकर जा रहा है। जो तेरे लिए भावी कष्ट के कारण होगे। अपने घोर अपराध के प्रति भी भगवान के मन मे ऐसा अगाध करुणा का भाव रहता था। वे सगम के भावी अनिष्ट से कष्टित हो रहे थे।

अन्तिम उपसर्ग

जब भगवान ने अपनी साधना के १२ वर्ष व्यतीत कर लिये तो उन्हे अन्तिम और अति दारुण उपसर्ग उत्पन्न हुआ था। वे विहार करते हुए छम्माणीग्राम मे पहुँचे थे। वहाँ ग्राम के बाहर ही एक स्थान पर वे ध्यानमग्न होकर खडे थे। एक ग्वाला आया और वहाँ अपने बैलो को छोड गया। जब वह लौटा तो बैल वहाँ नही थे। भगवान को बैलो के वहाँ होने और न होने की किसी भी स्थिति का भान नही था। ध्यानस्थ भगवान से ग्वाले ने बैलो के विषय मे प्रश्न किये, किन्तु भगवान ने कोई उत्तर नही दिया। वे तो ध्यानलीन थे। क्रोधान्ध होकर ग्वाला कहने लगा कि इस साधु को कुछ सुनाई नही देता, इसके कान व्यर्थ है। इसके इन व्यर्थ के कर्णरध्रो को मैं आज बन्द ही कर देता हूँ। और भगवान के दोनो कानो मे उसने काष्ठ शलाकाएँ ठूंस दी। कितनी घोर यातना थी ? कैसा दारुण कष्ट भगवान को हुआ होगा, किन्तु वे सर्वथा धीर बने रहे। उनका ध्यान तनिक भी नही डोला। ध्यान की सम्पूर्ति पर भगवान मध्यमा नगरी मे भिक्षा हेतु जब सिद्धार्थ वणिक के यहाँ पहुँचे तो वणिक के वैद्य खरक ने इन शलाकाओ को देखकर भगवान द्वारा अनुभूत कष्ट का अनुमान किया और सेवाभाव से प्रेरित होकर उसने कानो से शलाकाओ को बाहर निकाला।

साढे १२ वर्ष की साधना-अवधि मे भगवान को होने वाला यह सबसे बडा उपसर्ग था। इसमे उन्हे अत्यधिक यातना भी सहनी पडी। सयोग की ही बात है कि उपसर्गों का आरम्भ और समाप्ति दोनो ही ग्वाले के बैलो से सम्बन्ध रखने वाले प्रसगो मे हुई।

अद्भुत अभिग्रह : चन्दनबाला प्रसंग

प्रव्रज्या से केवलज्ञान-प्राप्ति तक की अवधि (साधना-काल) भगवान महावीर के लिए घोर कष्टमय रही। इन उपसर्गों मे प्राकृतिक आपदाएँ भी थी और दुर्जन-कृत परिस्थितियाँ भी। इन्हे समता के भाव के साथ झेलने की अपूर्व सामर्थ्य थी भगवान मे। आहार-विषयक नियत्रण मे भी भगवान बहुत आगे थे। निरन्न रहकर महिनो तक वे साधनालीन रह लेते थे। एक अभिग्रह-प्रसग तो बडा ही विचित्र है, जो भगवान के आत्म-नियन्त्रण का परिचायक भी है।

प्रभु ने एक बार १३ बोलों का विकट अभिग्रह किया, जो इस प्रकार था—अविवाहिता नृप कन्या हो जो निरपराध एव सदाचारिणी हो— तथापि वह बन्दिनी

हो, उसके हाथो मे हथकडियां व पैरो मे बेडियां हो—वह मुण्डित शीष हो—वह ३ दिनो से उपोषित हो—वह खाने के लिए सूप मे उबले हुए बाकुले लिए हुए हो—वह प्रतीक्षा मे हो, किसी अतिथि की—वह न घर मे हो, न बाहर—वह प्रसन्न वदना हो—किन्तु उसके नेत्र अश्रु पूरित हो।

यदि ऐसी अवस्था मे वह नृप कन्या अपने भोजन मे से मुझे भिक्षा दे, तो मैं आहार करूँगा अन्यथा ६ माह तक निराहार ही रहूँगा—यह अभिग्रह करके भगवान यथाक्रम विचरण करते रहे और श्रद्धालुजन नाना खाद्य पदार्थों की भेंट सहित उपस्थित होते, किन्तु वे उन्हे अभिग्रह के अनुकूल न पाकर अस्वीकार करके आगे बढ जाते थे। इस प्रकार ५ माह २५ दिन का समय निराहार ही बीत गया। और तब चन्दन बाला (चन्दना) से भिक्षा ग्रहण कर भगवान ने आहार किया। अभिग्रह की सारी परिस्थिति तभी पूर्ण हुई थी।

चन्दना चम्पा-नरेश दधिवाहन की राजकुमारी थी। कौशाम्बी के राजा शता-नीक ने चम्पा पर आक्रमण कर उसे ध्वस्त कर दिया था और विजयी सैनिक लूट के माल के साथ रानी और राजकुमारी को भी उठा लाये थे। मार्ग में [illegible] माता ने तो आत्मघात कर लिया, किन्तु सैनिक ने चन्दना को कौशाम्बी लाकर नीलाम कर दिया। सेठ धनावह उसे क्रय कर घर ले आया। धनावह का चन्दना पर [illegible] पवित्र स्नेह था, किन्तु उसकी पत्नी के मन में उत्पन्न होने वाली शंकाओं ने उसे चन्दना के प्रति ईर्ष्यालु बना दिया था। सेठानी ने चन्दना के सुन्दर केशों को कटवा दिया, उसके हाथ-पैरों में [illegible] डलवा दीं और उसे तहखाने में डाल दिया। उसे भोजन भी नहीं दिया गया। धनावह सेठ को ३ दिन के [illegible] चन्दना की इस दुर्दशा का पता लगा तो उसके हृदय में [illegible] वह [illegible] सारी बात [illegible] है। [illegible] सूप में रखकर [illegible]।

[illegible] मार्ग से [illegible] उठी, किन्तु [illegible] उसके नेत्रों में [illegible] नारि [illegible] उसने [illegible] किया। [illegible] की। [illegible] उसने [illegible] दीक्षित [illegible] साध्वी हुई।

गोशालक प्रसंग

वैभवशाली नालन्दा के आज जहाँ अवशेष है वहाँ कभी राजगृह का विशाल अचल था। भगवान का चातुर्मास इसी क्षेत्र मे था। सयम ग्रहण करने की अभिलाषा से एक युवक यहाँ भगवान के चरणो मे उपस्थित हुआ। उसके इस आशय पर भगवान ने अपने निर्णय को व्यक्त नही किया, किन्तु युवक गोशालक ने तो प्रभु का ही आश्रय पकड लिया था। प्रभु समदृष्टि थे—उनके लिए कोई शुभ अथवा अशुभ न था, किन्तु गोशालक दूषित मनोवृत्ति का था। स्वय चोरी करके भगवान की ओर सकेत कर देने तक मे उसे कोई सकोच नही होता था। करुणासिन्धु भगवान महावीर पर भला इसका क्या प्रभाव होता ? उनके चित्त मे गोशालक के प्रति कोई दुर्विचार भी कभी नही आया। भगवान वन मे विहार कर रहे थे, गोशालक भी उनका अनुसरण कर रहा था। उसने वहाँ एक साधु के प्रति दुर्विनीत व्यवहार किया और कुपित होकर साधु ने तेजोलेश्या का प्रहार गोशालक पर कर दिया। प्राणो के भय से वह भगवान से रक्षा की प्रार्थना करने लगा। करुणा की प्रतिमूर्ति भगवान ने शीतलेश्या के प्रभाव से उस तेजोलेश्या को शान्त कर दिया। अब तो गोशालक तेजोलेश्या की विधि बताने के लिए भगवान से बार-बार अनुनय करने लगा और भगवान ने उस पर यह कृपा कर दी। वह तो दुष्ट-प्रवृत्ति का था ही। सहार साधन पाकर उसने भगवान का आश्रय त्याग दिया और तेजोलेश्या की साधना मे ही लग गया।

केवलज्ञान-प्राप्ति

भगवान की यह सत् साधना अन्तत सफल हुई और वैशाख सुदी दशमी को ऋजुबालिका नदी के तट पर स्थित एक वन मे शालवृक्ष तले जब वे गोदोहन-मुद्रा मे उकडूं बैठे ध्यानलीन थे तभी उन्हे दुर्लभ केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। उनका आन्तरिक जगत आलोकपूर्ण हो गया। ४२ वर्षीय भगवान महावीर स्वामी के समक्ष सत्य अपने सारे आवरण छिन्न कर मौलिक रूप मे प्रकट हो गया था। वे जिज्ञासाएं अब तुष्ट हो गयी थी, जिनके लिए वे अब तक व्यग्र थे। जीवन और जगत के प्रश्न अब उनके मानस मे उत्तरित हो गये थे, जिनके निदान की उन्हे साध थी। अब केवली भगवान सर्वदर्शी एव सर्वज्ञ हो गये थे।

प्रथम धर्मदेशना

भगवान को केवलज्ञान की उत्पत्ति होते ही देवो ने पच दिव्यो की वर्षा की और प्रभु की सेवा मे उपस्थित होकर उनकी वन्दना तथा ज्ञान का महिमा-गान किया। देवताओ द्वारा भव्य समवसरण की रचना की गयी। मानवो की इस सभा मे अनुपस्थिति थी, मात्र देवता ही उपस्थित थे, अत भगवान की इस प्रथम देशना से किसी ने सयम स्वीकार नही किया। देवता तो भोग प्रवृत्ति के और अप्रत्याख्यानी होते है। त्याग-मार्ग का अनुसरण उनके लिए सभव नही होता। तीर्थंकर परम्परा मे प्रथम देशना का इस प्रकार प्रभाव शून्य होने का यह असामान्य और प्रथम ही प्रसग था।

मध्यपावा मे समवसरण

देवताओ द्वारा आयोजित समवसरण के विसर्जन पर भगवान का आगमन मध्यमपावा नगरी मे हुआ। यहाँ पुन विराट और अति भव्य समवसरण रचा गया। देव-दानव व मानवो की विशाल परिपद के मध्य भगवान स्फटिक आसन पर विराजित हुए और लोकभाषा मे उन्होने धर्मदेशना दी।

उन्ही दिनो इस नगर मे एक महायज्ञ का भी आयोजन चल रहा था। आर्य सोमिल इस यज्ञ के प्रमुख अधिष्ठाता थे। देश भर के प्रख्यात ११ विद्वान इसमे सम्मिलित हुए थे। एक प्रकार से इस महायज्ञ और भगवान के समवसरण से यह नगर दो सस्कृतियो, धर्म-पन्थो और विचारधाराओ का सगम-स्थल हो गया था। भगवान की देशना सरल भाषा मे थी और सामयिक समस्याओ के नवीनतम निदान लिए हुए थी। पडितो के प्रवचन अप्रचलित सस्कृत मे थे और आडम्बरपूर्ण, पुरातन और असामयिक होने के कारण उनके विषय भी अग्राह्य थे।

प्रभु जीव-अजीव, पाप-पुण्य, वन्ध-मोक्ष, लोक-अलोक, आस्रव-सवर आदि की अत्यन्त सरल व्याख्या कर जन-जन को प्रतिबोधित कर रहे थे। इस देशना से उपस्थित जनो को विश्वास होता जा रहा था कि यज्ञ के नाम पर पशुबलि हिंसा है। प्राणिमात्र से स्नेह रखना, किसी को कष्ट न पहुँचाना, किसी का तिरस्कार न करना आदि नये अनुसरणीय आदर्श उनके समक्ष स्थापित होते जा रहे थे। आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा और उसके लिए मार्ग उन्हे मिल रहा था। इसके लिए पचव्रत निर्वाह का उत्साह भी उनमे जागने लगा था। ये व्रत थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। भगवान की देशना मे स्याद्वाद और अनेकातवाद की महिमा भी स्पष्ट होती जा रही थी।

उधर यज्ञ मे इन्द्रभूति गौतम वेद मन्त्रोच्चार के साथ यज्ञाहुतियाँ देता जा रहा था। अपने पाण्डित्य का उसमे दर्प था। देवताओ के विमानो को आकाशमार्ग मे देख कर इन्द्रभूति गौतम का गर्व और अधिक बढ गया, किन्तु उसे धक्का तब लगा जब ये विमान यज्ञ-भूमि को पार कर समवसरण स्थल की ओर बढ गये। उसके मन मे इससे जो हीन भावना जन्मी उसने ईर्ष्या का रूप ले लिया। उसका अभिमान मुखरित होने लगा—"महावीर ज्ञानी नही—इन्द्रजालिक है। मैं उसके प्रभाव के थोथेपन को उद्घाटित कर दूँगा। मैं भी वसुभूति गौतम का पुत्र हूँ।" इस दर्प के साथ इन्द्रभूति अपने ५०० शिष्यो के साथ समवसरण स्थल पहुँचा।

भगवान ने उसे सम्बोधित कर कहा कि आप मुझे इद्रजालिक मानकर मेरे प्रभाव को नष्ट करने के विचार से आये हैं, न! इसके अतिरिक्त 'आत्मा है अथवा नही'—इस शका को भी आप अपने मन मे लेकर आये हैं, न! इस कथन से इद्रभूति पर भगवान का अतिशय प्रभाव हुआ। वह अवाक् रह गया। वैमनस्य और ईर्ष्या

का भाव न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। भगवान ने इद्रभूति गौतम की समस्त शकाओ का समाधान कर दिया और वह सन्तुष्ट हो गया।

प्रतिबोधित होकर इद्रभूति गौतम ने अपने सभी शिष्यो सहित भगवान के चरणो मे दीक्षा ग्रहण कर ली। इस घटना की प्रतिक्रिया भी बडी तीव्र हुई। पूर्वमत (कि महावीर इद्रजालिक है) की शेष पडितो ने इस घटना से पुष्टि होते हुए देखी। वे सोचने लगे कि इद्रजालिक न होते तो महावीर को इद्रभूति के मन मे विचारो का पता कैसे लगता ? यह भी उनका इद्रजाल ही है कि जिसके प्रभाव के कारण इद्रभूति और उनके शिष्य दीक्षित हो गये है। दुगुने वेग से इनमे विरोध का भाव उठा और शास्त्रार्थ मे भगवान को परास्त करने के उद्देश्य से अब अग्निभूति आया, किन्तु सत्य-मूर्ति भगवान के समक्ष वह भी टिक नही पाया और प्रभावित होकर दीक्षित हो गया। भगवान के प्रभाव की अति भव्य विजय हुई और प्रथम देशना मे ही ग्यारहो दिग्गज पडित अपने ४४०० शिष्यो सहित भगवान के आश्रय मे दीक्षित हो गये। प्रभु का अहिंसा-धर्म अब सर्वमान्य हो गया।

भगवान ने तीर्थ स्थापना की और इन प्रथम ११ शिष्यो को गणधर की गरिमा प्रदान की—

(१) इद्रभूति गौतम
(२) अग्निभूति गौतम
(३) वायुभूति गौतम
(४) आर्य व्यक्त
(५) सुधर्मा
(६) मण्डित
(७) मौर्यपुत्र
(८) अकम्पित
(९) अचलभ्राता
(१०) मेतार्य
(११) प्रभास

भगवान के केवली हो जाने की शुभ गाथा सुनकर चन्दना भी कौशाम्बी से इस समवसरण मे उपस्थित हुई और भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने साध्वी सघ की प्रथम आर्या होने का गौरव भी प्राप्त किया।

केवली चर्या : धर्म-प्रचार

केवली बनकर भगवान महावीर स्वामी ने आत्म-कल्याण से ही सन्तोष नही कर लिया, न ही धर्मानुशासन व्यवस्था का निर्धारण कर वे पीठाध्यक्ष होकर विश्राम करते रहे। परमानन्द का जो मार्ग उन्हे प्राप्त हो गया था, उनका लक्ष्य तो उसका प्रचार करके सामान्य जन को आत्म-कल्याण का लाभ पहुँचाना था। अत भगवान ने अपना शेष जीवन धर्मोपदेश मे व्यतीत करते हुए जनता का मार्ग-दर्शन करने मे व्यतीत किया। लगभग ३० वर्षों तक वे गाँव-गाँव और नगर-नगर मे विचरण करते हुए असख्य जनो को प्रतिबोध देते रहे।

भगवान क्रान्तदर्शी थे। देश-काल की परिस्थितियो का सूक्ष्म ज्ञान उन्हे था।

उन्होंने अनुभव किया कि तत्कालीन धर्म-क्षेत्र अनेक मत-मतान्तरो मे विभक्त और परस्पर कलह-ग्रस्त है । अतिवाद का भयकर रोग भी इन विभिन्न वर्गों को ग्रस रहा था । भगवान ने ऐसी दशा मे अनेकान्तवाद का प्रचार किया । उनके उपदेशो मे समन्वय का भाव होता था । कोई भी वस्तु न एकान्त नित्य होती है और न ही एकान्त अनित्य । स्वर्ण एक पदार्थ का नित्य रूप है, विभिन्न आभूषणो के निर्माण द्वारा उसका वाह्य आकार इत्यादि परिवर्तित होता रहता है, तथापि मूलत भीतर से वह स्वर्ण ही रहता है । आत्मा, पुद्गल आदि की भी यही स्थिति रहती है । मूलत अपने एक ही स्वरूप का निर्वाह करते हुए भी उनके वाह्य स्वरूप मे कतिपय परिवर्तन होते रहते हैं । मात्र इसी कारण अनेकान्तवादी होकर पारस्परिक विरोध रखना अनौचित्यपूर्ण है । वे सत्य पर आग्रह रखते थे और कहते थे कि परम्परा और नवीन मे से किसी का भी अन्धानुकरण करना व्यर्थ है । जिसे हम सत्य और उचित मानें केवल उसी का व्यवहार करें । इन सिद्धातो से जनता का अनैक्य कम होने लगा और लोग परस्पर समीपतर होने लगे ।

भगवान के उपदेशो मे अहिसा एव अपरिग्रह भी मुख्य तत्त्व थे । सभी धर्मों मे हिसा का निषेध है, तथापि यज्ञ के नाम पर जो पशु-बलि की प्रथा थी, वह व्यापक हिसा का ही रूप थी । भगवान ने इस हिसा का खुलकर विरोध किया । उनकी अहिसा का रूप वडा व्यापक था । वे मनुष्य, पशु-पक्षी ही नही वनस्पति तक को कष्ट पहुँचाना हिसा-वृत्ति के अन्तर्गत मानते थे और अहिसा को वे परम धर्म की सज्ञा देते थे । उनका कथन होता था कि जब हम किसी को प्राण-दान नही दे सकते तो प्राणो का हरण करने का अधिकार हमे कैसे मिल सकता है । क्षमा, दया, करुणा आदि की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए हिसा का जैसा व्यापक विरोध भगवान ने किया था वह मानव इतिहास मे अभूतपूर्व है ।

अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रचार करके भगवान ने मनुष्य की सग्रह वृत्ति और लोभ का विरोध किया । इसी दोष ने समाज मे वर्ग-विषमता और दैन्य की उत्पत्ति की है । प्रभु ने इच्छाओ, लालसाओ और आकाक्षाओ के परिसीमन का प्रभावशाली उपदेश दिया और आवश्यकता से अधिक सामग्री के त्याग की प्रेरणा दी । साथ ही दीन-हीनो पर भगवान के उपदेश का यह प्रत्यक्ष लाभ हुआ कि ये श्रमशील और कर्म निष्ठ वनने लगे । एक अद्भुत साम्य समाज मे स्थापित होने लगा था ।

भगवान महावीर स्वामी ने अपने युग मे प्रचलित भाग्यवाद का भी विरोध किया । ऐसी मान्यता थी कि ईश्वर जिसे जिस स्थिति मे रखना चाहता है—स्वय वही समय-समय पर उसे वैसा बनाता रहता है । मनुष्य इस व्यवस्था मे हस्तक्षेप नही कर सकता । वह भाग्याधीन है और जैसा चाहे वैसा स्वय को वना ही नही सकता । भगवान ने इस बद्धमूल धारणा का प्रतिकार करते हुए ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का परिचय दिया । आपने बताया कि ईश्वर तो निर्विकार है । वह किसी को कष्ट अथवा

किसी को सुख देने की कामना ही नही रखता। ये परिस्थितियाँ तो प्राणी के अपने ही पूर्वकर्मों के फलरूप मे प्रकट होती हैं। अपने लिए भावी सुख की नीव मनुष्य स्वय रख सकता है और शुभकर्म करना उसका साधन है। वह निज भाग्य निर्धारक है।

भगवान का कर्मवाद यह सिद्धात भी रखता है कि किसी की श्रेष्ठता का निश्चय उसके वश से नही, अपितु उसके कर्मों से ही होता है। कर्म से ही कोई महान् व उच्च हो सकता है और कर्मो से ही नीच व पतित। इस प्रकार जातिवाद पर आधारित कोरे दम्भ को भगवान ने निर्मूल कर दिया और सामाजिक-न्याय की प्रतिष्ठा की।

भगवान शिक्षा दिया करते थे कि नैतिकता, सदाचार और सद्भाव ही किसी मनुष्य को मानव कहलाने का अधिकारी बनाते है। धर्मशून्य मनुष्य प्राणी तो होगा, किन्तु मानवोचित सद्गुणो के अभाव मे उसे मानव नही कहा जा सकता।

अपने इन्ही कतिपय सिद्धातो का प्रचार कर भगवान ने धर्म को सकीर्ण परिधि से मुक्त करके उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध कर दिया। श्रेष्ठ जीवनादर्शो का समुच्चय ही धर्म के रूप मे उनके द्वारा स्वीकृत हुआ। भगवान के सदुपदेशो का व्यापक और गहन प्रभाव हुआ। परिणामत जहाँ मनुष्य को आत्म-कल्याण का मार्ग मिला, वही समाज भी प्रगतिशील और स्वच्छ हुआ। स्त्रियो के लिए भी आत्मोत्कर्ष के मार्ग को भगवान ने प्रशस्त किया और उन्हे समान स्तर पर अवस्थित किया। इस प्रकार व्यक्ति और समग्र दोनो को भगवान की प्रतिभा व ज्ञान-गरिमा से लाभान्वित होने का सुयोग मिला। अपने सर्वजनहिताय और विश्व मानवता के दृष्टिकोण के कारण प्रभु अपनी समग्र केवली चर्या मे सतत भ्रमणशील ही बने रहे और अधिकाधिक जन के कल्याण के लिए सचेष्ट रहे।

गोशालक का उद्धार

भगवान का २७वाँ वर्षावास श्रावस्ती नगर मे था। सयोग से दुष्ट प्रयोजन से तेजोलेश्या की उपासना मे लगा हुआ गोशालक भी उन दिनो श्रावस्ती मे ही था। लगभग १६ वर्ष बाद भगवान और उनका यह तथाकथित शिष्य एक ही स्थान पर थे। अब गोशालक भगवान महावीर का प्रतिरोधी था और स्वय को तीर्थंकर कहा करता था। इन्द्रभूति गौतम ने जब नगर मे यह चर्चा सुनी कि इस समय श्रावस्ती मे दो तीर्थंकर विश्राम कर रहे है—तो उसने भगवान से प्रश्न किया कि क्या गोशालक भी तीर्थंकर है।

प्रभु ने उत्तर मे कहा कि नही, वह न सर्वज्ञ है, न सर्वदर्शी। एक आडम्बर खडा करके वह अपनी प्रतिष्ठा बढाने मे लगा हुआ है। इस कथन से जब गोशालक अवगत हुआ तो उसे प्रचण्ड क्रोध आया और भगवान के शिष्य आनन्द मुनि से उसने कहा कि मैं अब महावीर का शिष्य नही रहा। अपनी स्वतत्र गरिमा रखता हूँ, मैं।

महावीर ने मेरे प्रति जन-मानस को विकृत किया है, किन्तु मैं भी इसका प्रतिशोध पूरा करके ही दम लूंगा।

क्रोधावेशयुक्त गोशालक भगवान के पास आया और उन्हे बुरा-भला कहने लगा। भगवान के शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्र इसे सहन नही कर पाये और उन्होने गोशालक का प्रतिरोध किया। दुष्ट गोशालक ने तेजोलेश्या का प्रहार कर इन दोनो को भस्म कर दिया और तब उसने यही प्रहार भगवान पर भी कर दिया। उसकी तेजोलेश्या भगवान के पास पहुंचने के पूर्व ही लौट गयी और स्वय गोशालक की ओर बढी।

समता के अवतार प्रभु इस समय भी क्षमा की भावना से ओतप्रोत थे। उन्होने गोशालक को सम्बोधित करते हुए कहा कि मेरा आयुष्य तो निश्चित है—कोई उसे बढा-घटा नही सकता किन्तु तेरा जीवन-मात्र ७ दिन का ही शेष रह गया है। अत सत्य को समझ और उसके अनुकूल व्यवहार कर। आवेश मे होने के कारण उस समय उस पर भगवान की वाणी का प्रभाव नही हुआ, किन्तु अन्त समय मे उसे अपने कुकृत्यो पर घोर दु ख होने लगा। आत्म-ग्लानि की ज्वालाओ मे वह दग्ध होने लगा। उसने अपने समस्त शिष्यो के समक्ष स्वीकार किया कि भगवान महावीर का विरोध करके मैंने घोर पाप किया है। इसका यही प्रायश्चित है कि मरणोपरान्त मेरे शव को श्रावस्ती के मार्गों पर घसीटा जाय। इससे सभी मेरे दुष्कर्मों से अवगत हो सकेंगे। उसने अपने शिष्यो को भगवान की शरण मे जाने का निर्देश भी दिया।

सातवें दिन गोशालक का देहान्त हो गया। प्रायश्चित्त ने उसके कर्म-बन्धनो से उसे मुक्त कर दिया और अतिम शुभ भावो के कारण उसे सद्गति प्राप्त हुई।

परिनिर्वाण

प्रभु का आयुष्य ७२ वर्ष का पूर्ण हो रहा था और ईसा पूर्व ५२७ का वह वर्ष था। भगवान का ४२वाँ वर्षावास पावापुर मे चल रहा था। प्रभु अपना निर्वाण समय समीप अनुभव कर निरन्तर रूप से दो दिन तक उपदेश देते रहे। ९ लिच्छवी, ९ मल्ल और काशी कौशल के १८ नरेश वहाँ उपस्थित थे, जो सभी पौषध व्रत के साथ उपदेशामृत का पान कर रहे थे। असख्य जन भगवान के दर्शनार्थ एकत्रित थे। भगवान के अन्तिम उपदेश से ये सभी कृतकृत्य हो रहे थे।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि का अन्तिम प्रहर और स्वाति नक्षत्र का शुभयोग था—तब भगवान महावीर स्वामी ने समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद की प्राप्ति करली। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान के परिनिर्वाण के समय उनके परम शिष्य और प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम वहाँ उपस्थित नही थे। वे समीपवर्ती किसी ग्राम मे थे। भगवान का परिनिर्वाण और गौतम को केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति एक ही रात्रि मे हुई। इन

दोनो शुभ पर्वो का आयोजन दीपमालाएँ सजाकर किया गया था और इन्ही शुभावसरो की स्मृति मे इस दिन प्रतिवर्ष प्रकाश उत्सव आयोजित करने की परम्परा चल पडी, जो आज भी दीपावली के रूप मे विद्यमान है। रात्रि के अतिम प्रहर मे गौतम केवली हुए इसलिए अमावस्या का दूसरा दिन गौतम प्रतिपदा के रूप मे आज भी मनाया जाता है।

धर्म-परिवार

भगवान महावीर स्वामी द्वारा स्थापित चतुर्विध सघ के अन्तर्गत धर्म परिवार इस प्रकार था—

गणधर	११
केवली	७००
मन पर्यवज्ञानी	५००
अवधिज्ञानी	१,३००
चौदह पूर्वधारी	३००
वादी	१,४००
वैक्रियलब्धिधारी	७००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	७००
साधु	१४,०००
साध्वी	३६,०००
श्रावक	१,५९,०००
श्राविका	३,१८,०००

परिशिष्ट

जन्म-वंश सम्बन्धी तथ्य

क्रम	तीर्थंकर नाम	जन्म स्थान	जन्म तिथि	पिता
१	भगवान ऋषभदेव	विनीता नगरी	चैत्र कृष्णा ८	राजा नाभिराज
२	भगवान अजितनाथ	विनीता नगरी	माघ शुक्ला ८	राजा जितशत्रु
३	भगवान सभवनाथ	श्रावस्ती नगर	मृगगिर शु १४	राजा जितारि
४	भगवान अभिनन्दननाथ	अयोध्या	माघ सुदि २	राजा सवर
५	भगवान सुमतिनाथ	अयोध्या	वै शु ८	राजा मेघराज
६	भगवान पद्मप्रभ	कौशाम्बी	का कृ १२	राजा घर
७	भगवान सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	ज्येष्ठ शु १२	राजा प्रतिष्ठ
८	भगवान चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	पौष कृ १२	राजा महासेन
९	भगवान सुविधिनाथ	काकन्दी नगरी	मृगशिर कृ ५	राजा सुग्रीव
१०	भगवान शीतलनाथ	भद्दिलपुर	माघ कृ १२	राजा दृढरथ
११	भगवान श्रेयासनाथ	सिंहपुरी	भा कृ १२	राजा विष्णु
१२	भगवान वासुपूज्य	चम्पानगरी	फा कृ १४	राजा वसुपूज्य
१३	भगवान विमलनाथ	कपिलपुर	माघ शु ३	राजा कृतवर्मा
१४	भगवान अनन्तनाथ	अयोध्या	बै कृ. १३	राजा सिंहसेन
१५	भगवान धर्मनाथ	रत्नपुर	माघ शु ३	राजा भानु
१६	भगवान शान्तिनाथ	हस्तिनापुर	ज्येष्ठ कृ १३	राजा विश्वसेन
१७	भगवान कुन्थुनाथ	हस्तिनापुर	बै कृ. १४	राजा शूरसेन
१८	भगवान अरनाथ	हस्तिनापुर	मृ शु १०	राजा सुदर्शन
१९	भगवान मल्लिनाथ	मिथिला	मृ० शु. ११	राजा कुम्भ
२०	भगवान मुनिसुव्रतनाथ	राजगृह	ज्येष्ठ कृ ८	राजा सुमित्र
२१	भगवान नमिनाथ	मिथिला	श्रा कृ ८	राजा विजय
२२	भगवान अरिष्टनेमि	सोरियपुर	श्रा शु ५	राजा समुद्रविजय
२३	भगवान पार्श्वनाथ	वाराणसी	पौष कृ १०	राजा अश्वसेन
२४	भगवान महावीर	कुण्डपुर	चैत्र शु १३	राजा सिद्धार्थ

एव व्यक्तित्व तथा आयु तालिका

माता	चिह्न	शरीर मान	वर्ण	आयु
रानी मरुदेवा	वृषभ	५०० धनुष	तपे सोने सा गौर	८४ लाख पूर्व वर्ष
रानी विजयादेवी	हाथी	४५० ,,	,,	७२ ,,
रानी सेनादेवी	अश्व	४०० ,,	,,	६० ,,
सिद्धार्था रानी	कपि	३५० ,,	,,	५० ,,
मगला रानी	क्रौंचपक्षी	३०० ,,	,,	४० ,,
सुसीमा रानी	पद्म	२५० ,,	लाल	३० ,,
पृथ्वी रानी	स्वस्तिक	२०० ,,	तपे सोने सा गौर	२० ,,
लक्ष्मणा रानी	चन्द्रमा	१५० ,,	गौर श्वेत	१० ,,
रामा रानी	मकर	१०० ,,	,,	२ ,,
रानी नन्दा	श्रीवत्स	९० ,,	तपे सोने सा गौर	१ ,,
रानी विष्णुदेवी	गेंडा	८० ,,	,,	८४ लाख वर्ष
रानी जया	महिष	७० ,,	लाल	७२ ,,
रानी श्यामादेवी	शूकर	६० ,,	तपे सोने सा गौर	६० ,,
रानी सुयशा	वाज	५० ,,	,,	३० ,,
रानी सुव्रतादेवी	वज्र	४५ ,,	,,	१० ,,
रानी अचिरादेवी	मृग	४० ,,	,,	१ ,,
रानी श्रीदेवी	छाग	३५ ,,	,,	९५ हजार वर्ष
रानी महादेवी	स्वस्तिक	३० ,,	,,	८४ ,,
रानी प्रभावती	कलश	२५ ,,	नील वर्ण (प्रियगु)	५५ ,,
रानी पद्मावती	कूर्म (कछुआ)	२० ,,	काला	३० ,,
रानी वप्रादेवी	कमल	१५ ,,	तपे सोने सा गौर	१० ,,
रानी शिवादेवी	शख	१० ,,	काला (श्याम)	१ ,,
रानी वामादेवी	नाग	९ हाथ	नील (प्रियगु)	१०० वर्ष
रानी त्रिशला	सिंह	७ हाथ	तपे सोने सा गौर	७२ ,,

साधक जीवन · तथ्य-तालिका

क्रम	तीर्थंकर नाम	दीक्षाग्रहण	केवलज्ञान	परिनिर्वाण	गणधर
१	भगवान ऋषभदेव	चैत्र कृष्णा ८	फा कृ ११ वटवृक्ष तले	मा कृ १३ अष्टापद पर्वत पर	८४
२	भगवान अजितनाथ	माघ शुक्ला ९	पौष शुक्ला ११	चै शु ५ सम्मेत शिखर पर	९५
३	भगवान सभवनाथ	मृगशिर सुदी १५	कार्तिक कृष्णा ५	चैत्र शुक्ला ५	१०२
४	भगवान अभिनन्दननाथ	माघ शुक्ला १२	पौष शुक्ला १४	वैशाख शुक्ला ८	११६
५	भगवान सुमतिनाथ	वैशाख शुक्ला ९	चैत्र शुक्ला ११	चैत्र शुक्ला ९	१००
६	भगवान पद्मप्रभ	कार्तिक कृष्णा १३	चैत्र सुदी १५	मृगशिर कृष्णा ११	१०७
७	भगवान सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन शुक्ला ६	फाल्गुन कृष्णा ७	९५
८	भगवान चन्द्रप्रभ	पौष कृष्णा १३	फाल्गुन कृष्णा ७	भाद्रपद कृष्णा ७	९३
९	भगवान सुविधिनाथ	मृगशिर कृष्णा ६	कार्तिक शुक्ला ३	भाद्रपद कृष्णा ९	८८
१०	भगवान शीतलनाथ	माघ कृष्णा १२	पौष कृष्णा १४	वैशाख कृष्णा २	८१
११	भगवान श्रेयासनाथ	फाल्गुन कृष्णा १३	माघ कृष्णा! ३०	श्रावण कृष्णा ३	७६
१२	भगवान वासुपूज्य	फाल्गुन कृष्णा ३०	माघ शुक्ला २	आषाढ शुक्ला १४	६६
१३	भगवान विमलनाथ	माघ शुक्ला ४	पौष शुक्ला ६	आषाढ कृष्णा ७	५६
१४	भगवान अनन्तनाथ	वैशाख कृष्णा १४	वैशाख कृष्णा १४	चैत्र शुक्ला ५	५०
१५	भगवान धर्मनाथ	माघ शुक्ला १३	पौष शुक्ला १५	ज्येष्ठ शुक्ला ५	४३
१६	भगवान शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृष्णा १४	पौष शुक्ला ९	ज्येष्ठ कृष्णा १३	९०
१७	भगवान कुन्थुनाथ	वैशाख कृष्णा ५	चैत्र शुक्ला ३	वैशाख कृष्णा १	३५
१८	भगवान अरनाथ	मार्गशीर्ष शुक्ला ११	कार्तिक शुक्ला १२	मार्गशीर्ष शुक्ला १०	३३
१९	भगवान मल्लिनाथ	मृगशिर शुक्ला ११	मृगशिर शुक्ला ११	चैत्र शुक्ला ४	२८
२०	भगवान मुनिसुव्रत	फाल्गुन शुक्ला १२	फाल्गुन कृष्णा १२	ज्येष्ठ कृष्णा ९	१८
२१	भगवान नमिनाथ	आषाढ कृष्णा ९	मृगशिर शुक्ला ११	वैशाख कृष्णा १०	१७
२२	भगवान अरिष्टनेमि	श्रावण शुक्ला ६	आश्विन कृष्णा ३०	आषाढ शुक्ला ८	१८
२३	भगवान पार्श्वनाथ	पौष कृष्णा ११	चैत्र कृष्णा ४	श्रावण शुक्ला ८	१०
२४	भगवान महावीर	चैत्र शुक्ला १३	मृगशिर कृष्णा १०	कार्तिक कृष्णा ३०	११

तीर्थंकरो के मध्य अन्तराल

क्रम	विवेच्य अवधि	अन्तराल-काल
	भगवान ऋषभदेव का निर्वाण . तीसरे आरे के ३ वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने की स्थिति मे—	
१	ऋषभदेव व अजितनाथ के मध्य	५० लाख करोड सागर
२	अजितनाथ एव समवनाथ के मध्य	३० ,, ,, ,,
३	समवनाथ व अभिनन्दननाथ के मध्य	१० ,, ,, ,,
४	अभिनन्दननाथ एव सुमतिनाथ के मध्य	६ ,, ,, ,,
५	सुमतिनाथ एव पद्मप्रभ के मध्य	६० हजार ,, ,,
६	पद्मप्रभ एव सुपार्श्वनाथ के मध्य	६ ,, ,, ,,
७	सुपार्श्वनाथ एव चन्द्रप्रभ के मध्य	६ सौ ,, ,,
८	चन्द्रप्रभ एव सुविधिनाथ के मध्य	६० ,, ,,
९	सुविधिनाथ एव शीतलनाथ के मध्य	६ ,, ,,
१०	शीतलनाथ एव श्रेयासनाथ के मध्य	६६ लाख २६ हजार १ सौ सागर कम एक करोड सागर
११	श्रेयासनाथ एव वासुपूज्य के मध्य	५४ सागर
१२	वासुपूज्य एव विमलनाथ के मध्य	३० ,,
१३	विमलनाथ एव अनन्तनाथ के मध्य	६ ,,
१४	अनन्तनाथ एव धर्मनाथ के मध्य	४ ,,
१५	धर्मनाथ एव शान्तिनाथ के मध्य	पौन पल्योपम ३ सागर
१६	शान्तिनाथ एव कुन्थुनाथ के मध्य	अर्द्ध पल्य
१७	कुन्थुनाथ एव अरनाथ के मध्य	१ हजार करोड वर्ष कम पाव पल्य
१८	अरनाथ एव मल्लिनाथ के मध्य	१ हजार करोड वर्ष
१९	मल्लिनाथ एव मुनिसुव्रतनाथ के मध्य	५४ लाख वर्ष
२०	मुनिसुव्रतनाथ एव नमिनाथ के मध्य	६ ,, ,,
२१	नमिनाथ एव अरिष्टनेमि के मध्य	५ ,, ,,
२२	अरिष्टनेमि एव पार्श्वनाथ के मध्य	८३७५० वर्ष
२३	पार्श्वनाथ एव महावीर स्वामी के मध्य	२५० वर्ष

प्रस्तुत ग्रन्थ में सहायक ग्रन्थ-सूची

१ कल्पसूत्र

२ आवश्यक निर्युक्ति

३ आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति

४ आवश्यक मलयगिरिवृत्ति

५ चउप्पन्न महापुरिसचरिय

६ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

७ महापुराण

८ उत्तरपुराण

९ जैनधर्म का मौलिक इतिहास

१० ऋषभदेव एक परिशीलन

११ भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण . एक अनुशीलन

१२ भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन

१३ भगवान महावीर · एक अनुशीलन

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१	भगवान महावीर एक अनुशीलन	४०)
२	भगवान पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन	५)
३	भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण	१०)
४	भगवान ऋषभदेव एक परिशीलन (द्वि स)	१५)
५	चौबीस तीर्थंकर एक पर्यवेक्षण	१०)
६	जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण	३०)
७.	भगवान महावीर की दार्शनिक चर्चाएं	२५)
८	जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा	२५)
९	धर्म का कल्पवृक्ष जीवन के आगन मे	२५)
१०	महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएँ	१२)
११	कल्पसूत्र एक विवेचन	२०)
१२	साहित्य और सस्कृति	१२)
१३	धर्म और दर्शन	५)
१४	चिन्तन की चाँदनी	४)
१५.	विचार रश्मियाँ	७)
१६	अनुभूति के आलोक मे	४)
१७	विचार और अनुभूतियाँ	२)
१८	खिलती कलियाँ मुस्कुराते फूल	३)५०
१९	प्रतिध्वनि	३)५०
२०	फूल और पराग	१)५०
२१	बोलते चित्र	१)५०
२२	अतीत के उज्ज्वल चरित्र	२)
२३.	महकते फूल	२)
२४	बिन्दु मे सिन्धु	२)
२५	अमिट रेखाएँ	२)
२६	विचार-वैभव	२)
२७	राजस्थान केसरी जीवन और विचार	७)
२८	सस्कृति के अचल मे	२)
२९	ओकार एक अनुचिन्तन	२)
३०	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र	२)
३१	बुद्धि के चमत्कार	१)५०
३२	अतीत के कम्पन	२)
३३	महावीर जीवन और दर्शन	२)
३४	जैन कथाएँ (२५ भाग) प्रत्येक भाग	[illegible]